श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

उत्तरार्द्ध—तृतीय किरण

दर्शनव्रतप्रतिमाधिकार

सम्पादक— श्री पं. भँवरलाल जैन, न्यायतीर्थ

प्रकाशिकाः—

श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति,

जयपुर ।

प्रथम संस्करण
१५०

वीर नि. संवत्
२४७६

मूल्य—
पूरे ग्रन्थ का ३०) रुपया ।
इस किरण का ३॥) रुपया ।

विषय-सूची

★

उत्तरार्द्ध की आगामी किरण

सामायिकादिपरिग्रहत्यागप्रतिमाधिकार

एवं

उत्तमनैष्ठिकसाधकाधिकार

शीघ्र ही छपरहा है ।

संयम—प्रकाश

उत्तरार्द्ध

तृतीय किरण

दर्शनव्रतप्रतिमाधिकार

* मङ्गलाचरण *

धर्मोपदेशकं वीर-मभिनम्य गुणाम्बुनिधिं ।
नैष्ठिकाचारसंक्षेपं ब्रुवे शास्त्रानुसारतः ॥

इस किरण में श्रावक की नैष्ठिक अवस्था के अन्तर्गत दर्शन प्रतिमा और व्रत प्रतिमाका वर्णन किया जावेगा। दर्शन प्रतिमा के वर्णन करने के क्रम में विस्तार से इस में श्रावकों के ६ आवश्यकों का वर्णन भी किया जावेगा। सर्व प्रथम यहाँ श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति बताते हैं।

श्रावकशब्द की व्युत्पत्ति

"शृणोति धर्मतत्त्वं यः परान् श्रावयति श्रुतं ।
श्रद्धावान् जैनधर्मे सः सत्क्रियः श्रावको बुधः ॥"

अर्थ—जो भव्य आत्मीक उन्नति का इच्छुक हो, सच्चा श्रद्धावान् होकर जैनधर्म तथा जिनेन्द्र प्रतिपादित जीवादि सप्ततत्त्वों के स्वरूप को स्वयं शास्त्रों द्वारा श्रवण करता हो, दूसरों को श्रवण कराता हो, सच्ची प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाला हो, हेय—(छोड़ने योग्य), उपादेय

(ग्रहण करने योग्य) और ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तु का विवेक रखने वाला हो, तथा सत्क्रियाओं (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और संतोष) के करने में तत्पर हो, वही सच्चा श्रावक है।

धर्मात्मा का स्वरूप

"प्रीणयेच्छ्रावकान्नित्यं सधर्मं धर्मसिद्धये ।
सद्धर्मोद्धारकः सत्यं धार्मिको हि मतो बुधैः ॥ १ ॥

अर्थ—प्रत्येक जैन बन्धु का कर्तव्य है कि वह ऐसे उक्त धार्मिक श्रावकों का सदा सत्कार करे, अर्थात् उन्हें धन, विद्या आदि द्वारा धर्म में दृढ़ रखे। जो ऐसा करता है, उसे ही विद्वानों ने सच्चा धर्मात्मा कहा है। क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैर्विना" इस आर्ष सिद्धान्त के अनुसार धर्मात्माओं का उपकार करना ही धर्म की रक्षा करना माना गया है।

शास्त्रकारों ने श्रावकों के प्रति दिन करने योग्य षट् कर्तव्य इस प्रकार निर्दिष्ट किये हैं।

श्रावकों के षट् कर्त्तव्य

"देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चैव गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥ १ ॥ [पद्मनन्दि पंचविंशतिका]

अर्थ—(१) देव पूजा (२) गुरूपासना (३) शास्त्र-स्वाध्याय (४) संयम धर्म का पालन (५) तपश्चर्या (६) और पात्र दान—ये श्रावकों के धार्मिक षट् कर्तव्य निर्दिष्ट किये हैं। देव पूजा प्रभृति षट् धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान करना प्रत्येक श्रावक का दैनिक कर्तव्य है। इनके पालन किये बिना कोई गृहस्थ नहीं कहला सकता। जैसे शरीर में किसी अंग की कमी रहने से विकलाङ्ग कुरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार इन में किसी एक को न पालने पर गृहस्थ धर्म अपूर्ण ही रहता है। और "धर्म एव हतो हन्ति" "धर्मो रक्षति रक्षितः" अर्थात् धार्मिक क्रियाओं को न पालन करने से जीवन दुःखी रहता है और धर्म की रक्षा से जीवन सुखी होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार जो व्यक्ति इन्हें पालन नहीं कर सकता उसका जीवन दुःखी है।

धर्माचरणहीन व्यक्ति मूर्ख है

वास्तव में वही विद्वान्, पंडित और बुद्धिमान है जिसका जीवन धर्म रूप व्यतीत होता है। धर्म का फल प्राप्त करता हुआ भी जो धर्म नहीं करता वह मूर्ख है। कवि ने कहा है:—

"सः मूर्खः स जड़ः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि ।
योऽश्नन्नपि फलं धर्माद् धर्मे भवति मन्दधीः ॥ १ ॥
स विद्वान् स महाप्राज्ञः स धीमान् स च पण्डितः ।
यः स्वतोऽन्यतो वाऽपि नाधर्माय समीहते ॥ २ ॥ [यशस्तिलक ६ आश्वास]

अर्थ—जो व्यक्ति धर्म के फलों–मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, सम्पत्ति, सत्कुटुम्ब, आदिको भोगता हुआ भी धार्मिक क्रियाओं के पालन करने में प्रयत्न नहीं करता, वह व्यक्ति मूर्ख है, जड है और अज्ञानी है। वह पशु से भी जघन्य कोटि का है। तथा जो व्यक्ति स्वयं पापक्रियाओं में प्रवृत नहीं होता तथा न दूसरों को पाप कार्यों में प्रवृत्त कराता है अर्थात् जो स्वयं धार्मिक कर्तव्यों का पालन करता है, तथा दूसरों को भी धर्म कार्य में प्रेरणा करता है, वही विद्वान् है, वही महा भाग्य शाली है; एवं वही बुद्धिमान् और पण्डित है—यह मनुष्य भव दुर्लभ है इसकी सफलता धर्म से ही है। कविने कहा है:—

मानव जीवन की दुर्लभता और उसकी उपयोगिता

"संसारसागरमिमं भ्रमता नितान्तं
जीवेन मानवभवः समवापि दैवात् ।
तत्रापि यद्भुवनमान्यकुलप्रसूतिः
सत्संगतिश्च तदिहान्धकवर्तकीयम् ॥ १ ॥ [यशस्तिलक चम्पू ६ आश्वास]

अर्थ –इस प्राणी ने अनादि काल से इस संसार रूपी समुद्र में घूमते हुए अनन्त पर्यायें धारण कीं, किन्तु उनमें से इसे

मनुष्य पर्याय जिस मे कि आत्म—कल्याण के सभी साधन विद्यमान हैं, बड़े भाग्य से प्राप्त हुई है। उसमें भी ससार में प्रसिद्ध उच्च कुल में उत्पन्न होना, और सज्जनों की संगति मिलना ये अन्धक वर्तकीय न्याय की तरह दुर्लभ है, अर्थात् जैसे अन्धे के हाथ मे बटेर पक्षी का आजाना महा कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय पाने परभी पृथिवी में मान्य कुल में उत्पन्न होना और सज्जन महा पुरुषों का समागम होना महा दुर्लभ है।

और भी कहा है—

"शुश्रूषामाश्रयत्वं बुधजनपदवीं याहि कोपं मुञ्च
ज्ञानाभ्यासं कुरुष्व त्यज विषयरिपुं धर्ममित्रं भजात्मन् ।
निस्त्रिंशत्वं जहीहि व्यसनविमुखतामेहि नीतिं विधेहि
श्रेयश्चेदस्ति पूतं परमसुखमयं लब्धुमिच्छास्त दोषं ॥ ४०२ ॥ [सुभाषितरत्न सदोह]

अर्थ—हे भव्य ! यदि तेरे निर्दोष परम सुख देने वाले मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा है, तो तुम शास्त्रों को मन लगा कर सुनो। विद्वानों के सदाचार मार्ग को प्राप्त हो ओ। क्रोध को छोड़ो, ज्ञान का अभ्यास करो, पंचेन्द्रियों के विषय रूप शत्रुओं को छोड़ो और धर्म रूपी मित्र को भजो। क्रूरता को छोड़ो, खोटी आदतों (व्यसनों) से मुख मोड़ो, और नीति मार्ग को प्राप्त करो।

और भी कहा है—

"लक्ष्मींप्राप्यापयनघ्यामखिलपरजनप्रीतिपुष्टिप्रदात्रीं
कान्तां कांताङ्गयष्टिं विकसितवदनां चिन्तयत्यार्तचित्तः ।
तस्याः पुत्रं पवित्रं प्रथितपृथुगुणं तस्य भार्यां च तस्याः
पुत्रं तस्याऽपिकान्तामितिविहितमतिः खिद्यते जीवमूढः ॥ ४०४ ॥ [सुभाषितरत्न संदोह]

अर्थ—हे भव्य ! तू समस्त प्राणियों को प्रेम उत्पन्न करने वाली और पालन करने वाली ऐसी प्रचुर (अटूट) लक्ष्मी धन दौलत को पाकर के भी उस में संतोष न करके सर्वाङ्ग सुन्दरी स्त्री की प्राप्ति के लिये आर्त ध्यान करता है। तत्पश्चात् उस स्त्री से गुणवान् सुन्दर पुत्र के पैदा होने की इच्छा करता है, फिर उस पुत्र के विवाह की कामना करता है, कि मेरे पुत्रवधू आजवे तो अच्छा है। फिर उस पुत्र वधू से पुत्र होने की

इच्छा करता है। अर्थात् पौत्र की चाह करता है। हे भव्य! तू इस प्रकार इच्छाओं से व्यर्थ क्यों खेदखिन्न होता है, आत्म-कल्याण का विचार कर। और भी कहा है—

शरीर से ममत्व छोड़ कर धार्मिक कर्तव्य-पालन का उपदेश

"जन्मक्षेत्रेऽपवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे,
देहे व्याध्यादिसिन्धुप्रपतनजलधौ पापपानीयकुम्भे।
कुर्वाणो बन्धुबुद्धिं विविधमलभृते यासि रे जीव नाशं
संचिन्त्यैवं शरीरे कुरु हतममतो धर्मकार्याणि नित्यं ॥ ४०५ ॥ [सुभाषितरत्न संदोह]

अर्थ—हे जीव! तू महा अपवित्र, बिजली की चमक के समान चंचल, दोष रूप सर्पों की वामीरूप, अनेक व्याधि रूपी नदियों के के गिरने का समुद्र, पापरूपी पानी का घड़ा, मलमूत्रादि का स्थान ऐसे इस शरीर में बंधु-बुद्धि करता हुआ (प्रेम करता हुआ) व्यर्थ क्यों बरबाद होरहा है अर्थात् धर्म से विमुख होरहा है। इसलिये तू इस शरीर से ममत्व छोड़ कर धार्मिक कर्तव्यों का सदा पालन कर।

"यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसङ्गसौख्ये
तद्वद्धर्मे चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते जैनमार्गे विदध्याः।
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतनवजरामृत्युदुःखप्रपञ्चं
संचिन्त्यैवं विदधत्स्व स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वं ॥ ४०६ ॥ [अमितगति]

अर्थ—हे भव्य! जैसे तू काम-बाणों से घायल हुआ स्त्री-सेवन सम्बन्धी सुख में मन लगाता है, उसी प्रकार तू तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा कहे हुए मोक्षमार्ग मे मन लगा। ऐसा करने से जन्म-जरा-मरण से रहित वास्तविक कौन २ से सुखों को प्राप्त नहीं होगा? अर्थात् सभी सुखों को प्राप्त होगा। ऐसा विचार कर निश्चल बुद्धि से उसमें चित्त स्थिर करो।

और भी कहा है—

"दृष्ट्वा लक्ष्मीं परेषां किमिति हतमते! खेदमन्तः करोषि
नैषामेते न च त्वं कतिपयदिवसैर्गत्वरं थे न सर्वम्।

सत्त्वं धर्मं विधेहि स्थिरविशदधिया जीवमुक्त्वान्यवांछाम्,
येन प्रध्वस्तबाधां विततसुखमयीं मुक्तिलक्ष्मीमुपैषि ॥ ४१२ । [अमितगति]

अर्थ—हे नष्ट बुद्धि वाले ! तू दूसरे की सम्पदा को देखकर अन्तरङ्ग में क्यों खेदखिन्न होता है ? क्यों कि न तो यह लक्ष्मी स्थिर है, और न ये धार्मिक लोग स्थिर हैं, और न तुम ही स्थिर हो। ये तमाम चीजें कुछ दिनों मे नाश होने वाली हैं। इसलिये हे प्राणिन् ! तमाम इच्छाओं को छोड़कर निश्चल और निर्मम बुद्धि से धार्मिक कर्तव्यों का पालन करो, जिससे बाधा रहित निश्चल सुखवाली मुक्ति रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करसको।

आगे और भी आचार्यों का उपदेश दिखाते हैं—

"धर्मे चित्तं निधेहि श्रुतिकथितविधिं जीव भक्त्या विधेहि
सम्यक्त्वान्तं पुनीहि व्यसनकुसुमितं, कामवृक्षं लुनीहि ।
पापे बुद्धिं धुनीहि प्रशमयमदमान् शिक्षिपिक्षिप्रमादम्
छिन्धि क्रोधं विभिन्धि प्रचुरमदगिरस्तेऽस्ति चेन्मुक्तिवांछा ॥ ४१४ ॥
एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखरुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो
नान्यत् किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि ।
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे
पर्यालोच्येति जीवस्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रयत्वम् ॥ ४१६ ॥
मैत्रीं सत्वेषु मोदं गुणवति करुणां क्लेशिते देहभाजि
मध्यस्थत्वं प्रतीपे जिनवचसि रतिं निग्रहं क्रोधयोधे ।
आचार्येभ्यो निवृत्तिं मृतिजननभवाद्भीतिमत्यन्तदुःखात्
हे जीव त्वं विधत्स्व च्युतनिखिलमले मोक्षसौख्येऽभिलाषं ॥ ४२१ ॥

तीव्रत्रासप्रदायि प्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते,
दुःखानां हेतुभूते भवगहनवनेऽनेकयोऽन्यद्रिरौद्रे ।
भ्राम्यन्प्राप्य नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणो दुष्कृतस्य,
नो चेत् धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वाञ्छितस्त्वं तदात्मन् ॥ ४२४ ॥ [अमितगति]

अर्थ—हे भव्य प्राणिन् ! यदि तुझे मोक्ष सुख के प्राप्त करने की इच्छा है, तो अपने चित्तको धर्म में स्थिर कर और शास्त्रविहित कर्तव्य का भक्ति से पालन कर। सम्यग्दर्शन के द्वारा अपने मन को पवित्र कर। व्यसन रूपी फूलों वाले काम रूपी वृक्ष को काट डाल। हिंसा झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य, आदि पापों से बुद्धि को हटा। कषायों को शान्त कर, इन्द्रियों का दमन कर, प्रमाद का नाशकर और क्रोध को भी छोड़ दे। तथा घमंड वचनों को मत बोल।

मेरा आत्मा द्रव्यार्थिकनय से एक और नित्य (अविनाशी) है तथा सुख स्वरूप है, और सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दृष्टि स्वभाव वाला है। तेरे से भिन्न शरीर, धन, इन्द्रियां, भाई स्त्री, तथा दूसरी सुख सामग्री मेरी नहीं है। इन सब चीजों का सम्बन्ध कर्मों के उदय से हुआ है अतः दुःख देने वाला है। इनसे मुझे मोह करना व्यर्थ है। हे आत्मन् ? ऐसा निश्चय करके अपने कल्याण रूप नित्य मोक्ष मार्ग को प्राप्त करो।

हे भव्य प्राणी ! तू संसार के सभि जीवों में मैत्री भाव (सब सुखी रहे ऐसी भावना रखना) का चिन्तवन कर। तुझे गुणवानों (विद्वानों, त्यागी, व्रती, चारित्रवान् धर्मात्मा व्यक्ति) को देखकर मन में हर्षित होना एवं हर्ष प्रकट करना, तथा दुःखी जीवों को देखकर दया भाव धारण करना, एवं विरुद्ध चलन वाले—विधर्मियों को देखकर उनमें माध्यस्थ भाव रखना अर्थात राग एवं द्वेष न करना और जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में रुचि रखना, और अत्यन्त दुःख देनेवाले जन्म, जरा मरण रूप दुःखों से डरना तथा समस्त पाप रूपी संसार का त्याग कर, नित्य, बाधा रहित, अतीन्द्रिय मोक्ष सुख की अभिलाषा करना चाहिए।

हे भव्य प्राणी ! भयानक दुःख देनेवाले, जन्म, जरा, मरण रूपी पहाड़ों से भयङ्कर दुःखों का कारण ऐसे संसार रूपी वन में घूमते हुए तूने विशेष पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य पर्याय प्राप्त की है, तो भी यदि तू धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होगा, तो हे प्राणी ! तू अपने को ठगा गया समझ।

क्योंकि वास्तविक सुख की प्राप्ति तभी होगी, जब आत्मा को वीतराग विज्ञानता निधि प्राप्त होगी, और उसका मार्ग वैराग्य अवस्था है। बाकी सांसारिक चीजें क्षणिक, कर्मोदय के अधीन, दुख मिश्रित, आसक्ति के कारण होने से पाप बन्ध करने वाली हैं।

और भी कहा है—

"भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं,
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयं।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयं ॥ ११६ ॥ [वैराग्यशतक भर्तृहरि]

अर्थ—स्त्री आदि विषय भोगों में सुख नहीं, क्योंकि उन में शारीरिक रोग का भय, है। बड़े २ प्रतिष्ठित कुल की प्राप्ति में भी सुख नहीं हैं क्योंकि उस में पतन का भय है। अर्थात अन्याय रूप प्रवृति करने वाले, कुटुम्बियों के कारण से वंश बदनाम हो जाता है। इसी प्रकार धन की प्राप्ति में भी सुख नहीं है, क्योंकि उसमें राजा का भय है। मौन रखने में भी सुख नहीं है क्योंकि उस मे दीनता का भय है। शारीरिक शक्ति मे भी सुख नहीं हैं क्योंकि शत्रुओं का भय है। और सुन्दर रूप की प्राप्ति में भी सुख नहीं हैं क्योकि उसमे बुढापे का भय है। अर्थात् वृद्धावस्था में तमाम रूप नष्ट प्रायः हो जाता है। विद्वत्ता प्राप्ति में भी सुख नहीं है क्योकि उस मे शास्त्रार्थ का भय है। गुणों की प्राप्ति मे भी सुख नहीं है, क्योंकि उस में दुष्टों का भय है। इसलिये संसार में मनुष्यों की तमाम इष्ट सामग्री के साथ दुःख लगा हुआ है। यदि भय और दुख रहित कोई वस्तु है तो वह है वैराग्य अवस्था, जो सदा सुख देने वाली है।

और भी कहा है—

धर्माचरण से सब कुछ मिलता है।

"धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसंपत्तयः।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः ॥ १ ॥

धर्मोऽयं धनवल्लभेषुधनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरः पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नाना विकल्पैर्नृणां,
तत्किं यन्न करोति किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि ॥ २ ॥"

अर्थ—निरोगी शरीर, उत्तमकुलमें जन्मलेना, चतुराई, उत्तम भाग्य, बडी आयु, और शारीरिक शक्ति, आदि इष्ट पदार्थ उसी जीव को प्राप्त होते हैं जिसने पूर्व जन्म में विशेष पुण्य किया है। धर्म करने से ही इसकी निर्मल कीर्ति प्रगट होती है, तथा उत्तम विद्या, धनादि सम्पत्तियां और नीरोगता धर्म से ही प्राप्त होती है, धर्म ही इस जीव को महा भयानक वन से बचा लेता है। अधिक क्या कहें, अच्छी तरह पाला गया धर्म स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को प्रदान करता है। तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा कहा हुआ धर्म धन चाहने वालों को धन देता है, अभिलषित चीज चाहने वालों को चाही हुई चीज देने मे समर्थ है, सौभाग्य चाहने वालों को सौभाग्य देता है, तथा पुत्र चाहने वालों को पुत्र देता है, राज्य चाहने वालों को राज्य देता है। अधिक क्या कहें इतना ही विशेष समझना चाहिये कि ऐसा कौनसा इष्ट पदार्थ है जो कि धर्म के पालने से इस प्राणी को प्राप्त न हो सके? अर्थात् धर्मात्मा मनुष्यों को सभी इष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। यह धर्म सर्वोच्च स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को भी प्रदान करता है।

और भी कहा है—

"जैनोधर्मः वचनपटुता कौशलं सत्क्रियासु,
विद्वद्गोष्ठी प्रकटविभवः संगतिः साधुलोके ।
साध्वी लक्ष्मी चरणकमलोपासना सद्गुरूणां,
शुद्धं शीलं मतिविमलता प्राप्यते भाग्यवद्भिः ॥ १ ॥

अर्थ—जिन्होंने पूर्व जन्म में पुण्य किया है; ऐसे भाग्यवान् पुरुषों को ही जैन धर्म, विशेष ऐश्वर्य की प्राप्ति, सज्जनों की संगति, विद्वानों के साथ तत्व चर्चा करना, भाषण देने मे कुशलता, सदाचार पालने मे चतुराई, शुद्धशील, और ज्ञान की निर्मलता, ये इष्ट साधन प्राप्त होते हैं। अतएव प्रत्येक प्राणी को धार्मिक कर्तव्यों के पालने में दृढ रहना चाहिए। यह मानव जीवन बड़ी कठिनाई से प्राप्त

हुआ है। इसे देव पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, त्याग, इन धार्मिक क्रियाओं द्वारा सफल बनाना चाहिए। कहा भी है—

आगे उन षट् कर्मों को क्रमसे निर्दिष्ट करते हैं—

देव पूजा और उसका महात्म्य

"दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो न सावया तेण विणा"

तात्पर्य—गृहस्थों का मुख्य कर्त्तव्य श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, तथा पात्र दान करना है। इनके बिना श्रावक धर्म नहीं कहा जा सकता। जिनेन्द्र पूजन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है जिससे यह आत्मा परम्परा से मुक्ति रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति कर लेता है। और शाश्वत सुख प्राप्त करता है। कहा भी है—

"जिणपूजा मुणिदाणं करेइ सो देइसत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो होइ मोक्ख मग्गरदो ॥ १ ॥"

अर्थ—जो श्रावक श्री तीर्थङ्कर भगवान् की पूजा करता है और शक्ति के अनुसार मुनिदान करता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है। और वह ही मोक्षमार्ग में लगा हुआ है। और भी कहा है—

"एकाऽपि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं,
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ २ ॥ [सोमदेवसूरि यशस्तिलक]

अर्थ—केवल जिनेन्द्र भगवान् की पूजा भक्ति भी विवेकी श्रावक को दुर्गति के दुःखों से छुड़ा कर सद्गति में पहुंचाती है तथा महान् पुण्य बन्ध कराती है, एवं परम्परा से मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देती है। और भी कहा है—

"कृत्वा न पूजां गुरुदेवयोः यः, करोति किञ्चित् गृहकार्यजातम्।
भक्त्या से हीनः भवतीह पापी, गाढान्धकारे महति प्रविष्टः ॥"

अर्थ—जो भगवान् की पूजा किये बिना तथा सद्गुरुओं की उपासना किये बिना भोजन करते हैं, वे केवल पाप रूपी अन्धकार का भक्षण करते हैं।

भावार्थ—श्रावक—जीवन, आरोग्य, इन्द्रियों के भोग उपभोग की सामग्री की तृष्णा के कारण असि, मषी, कृषि वाणिज्य (व्यापार) आदि जीविका के साधनों में प्रयत्न करता रहता है। तथा भोज्य सामग्री तैय्यार करने में एवं गृह को शुद्ध रखने में उसे चक्की, चूला, ऊखल मार्जनी आदि का आरम्भ करना पड़ता है। इस आरंभ जनित पाप की शुद्धि, जिन पूजन और पात्रदान से हो जाती है, इसलिए जो श्रावक जिन पूजन, पात्र दान एवं गुरुभक्ति करता है, वह श्रावक अपने आरंभ दोषों से उत्पन्न हुए पापों से शुद्धि करके पुण्य बन्ध को प्राप्त करता है। इसलिये वह प्रशंसनीय धर्मात्मा है, एवं जो जिनेन्द्र भक्ति और पात्र दान किये बिना भोजन करता है, वह पाप रूपी अंधेरे को ही खाता है, क्योंकि उसके पाप की शुद्धि कदापि नहीं हो सकती और भी कहा है—

"केचिद्वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः,
केचिद्वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः ।
ब्रूमोवयं निखिलशास्त्रविशेषविज्ञाः,
परमात्मनः स्मरणहीनजनो जघन्यः ॥ १ ॥"

अर्थ—कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि जिसके पास धन नहीं है अर्थात् जो दरिद्र है, वह जघन्य कोटिका मनुष्य है। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि जिसने मानवीय जीवन सदृश उच्च पद प्राप्त करके सद्विद्या, सदाचार, आदि मानवोचित गुण प्राप्त नहीं किये; वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। सभी शास्त्रों के विद्वान् हम कहते हैं कि जिसका हृदय भगवान् की भक्ति से शून्य है वह जघन्य कोटि का मनुष्य है, हैं। और भी कहा है—

"पापं लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदं,
पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति नीरोगताम् ।
सौभाग्यं विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः,
स्वर्गं यच्छति निर्वृतिं च रचयत्यर्चार्हतां निर्मिता ॥ ६ ॥ [सूक्तमुक्तावलि]

अर्थ—श्री तीर्थंङ्कर भगवान् की पूजा करने से पाप नष्ट होते हैं, दुर्गति के दुःख दूर होते हैं, और आपत्तियां नष्ट हो जाती हैं, पुण्य का संचय होता है, धनादि लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, शरीर निरोगी रहता है, उत्तम भाग्योदय होता है, समस्त लोग भगवान् के भक्त से प्रेम करने लगते हैं उसकी कीर्ति होती है और स्वर्ग तथा परम्परा से मोक्ष सुख की प्राप्ति भी भगवान् की पूजा से होती है। कहा भी है—

"देवान् गुरून् धर्मं चोपाचरन् न व्याकुलमतिः स्यात्" [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थंङ्कर भगवान् की सेवा पूजा करने वाला तथा निर्ग्रन्थ (बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहरहित) सम्यग्ज्ञान और आत्मध्यान में लीन, ऐसे साधुओं की उपासना करने वाला तथा भगवान् तीर्थंङ्कर के कहे हुए दयामयी धर्म की भक्ति करने वाला, प्राणी कभी दुःखी नहीं हो सकता।

इस बात को "चक्की के कीले के पास के दाने" इस लौकिक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। गेहूं आदि अन्न पीसने वाली चक्की में जितने गेहू वगैरह के दाने डाले जाते हैं, उनमे चक्की के कीले के पास के दाने नहीं पिसते और सब पिस जाते हैं। उसी प्रकार हे भव्य प्राणियों! यह संसार रूपी महा भयानक चक्की है। इसके जन्म मरण रूपी दो पाट हैं। प्रायः इसमें पड़ कर सभी जीव पिस जाते हैं एवं दुःखी होते हैं किन्तु जो धर्मात्मा पुरुष सच्चे देव, शास्त्र और गुरु रूपी कीले का आश्रय करता है वह कभी इस भयानक संसार रूपी चक्की मे नहीं पिसता। क्योंकि उसे स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होकर परंपरा से मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार पारस पत्थर के संयोग से लोहा सुवर्ण हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर रूप पारस मणि के संयोग से यह प्राणी भी विशद ज्ञानी और तेजस्वी हो जाता है।

कहा भी है—

"नात्यद्भुतं भुवन भूषण भूतनाथ,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्याः भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इहनात्म समं करोति ॥ १० ॥ [मानतुंगाचार्य भक्तामर स्तोत्र]

अर्थ—हे संसार के भूषण ! आपके पवित्र गुणों से आपकी स्तुति और पूजन करने वाले मनुष्य, आपके समान हो जाते हैं- इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि दुनिया में वे स्वामी मान्य नहीं हैं, जो अपने अधीन सेवकों को धन द्वारा अपने समान नहीं बनाते।

और भी कहा है—

ईश्वर भक्ति का माहात्म्य

"एकचित्तेन यो धीमान् वीतरागं भजेत् सदा ।
स्वर्गराज्यादिकं सर्वं भुक्त्वा स तादृशो भवेत् ॥ ४० ॥
वीतरागं परित्यज्य रागद्वेषान्वितं भजेत् ।
त्यक्त्वा चिन्तामणिं सोऽत्र लोष्टं गृह्णाति दुर्मतिः ॥ ४१ ॥
जिनस्मरणमात्रेण शोकक्लेशभयादिकं ।
शाकिनीग्रहरोगादिदारिद्र्यं च विनश्यति ॥ ४२ ॥
द्वौ देवौ सेवते मूढो द्वौ धर्मौ द्वौ गुरू च यः,
उन्मत्तवत् स विज्ञेयः कार्याकार्यविचारकः ॥ ४२ ॥
विबुधकुमुदचन्द्रं सर्वदुःखापहारं,
त्रिभुवनपतिसेव्यं धर्मरत्नाकरं वै ।
स्वपरहितमपारं स्वर्गमोक्षैकहेतुं,
सकलगुणनिधानं तीर्थनाथं भज त्वम् ॥ ४४ ॥"

अर्थ—जो ज्ञानवान मनुष्य मन लगा कर तीर्थङ्कर भगवान् की पूजा और भक्ति करता है वह स्वर्ग लक्ष्मी को प्राप्त कर तीर्थङ्कर भगवान के समान मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है।

जो व्यक्ति वीतराग सर्वज्ञ भगवान् की भक्ति पूजा को छोड कर रागी द्वेषी कुदेवों की पूजा करता है, वह मूर्ख चिन्तामणि को छोडकर पत्थर उठाता है।

जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र गुणों के स्मरण करने से शोक भय आदि के कष्ट, भूत, प्रेतओर ग्रहों के कष्ट तथा शारीरिक दुःख एवं दरिद्रता आदि के दुःख नष्ट हो जाते हैं।

जो मूर्ख दोनों परस्पर विरोधी देवों को (वीतराग सर्वज्ञ तीर्थङ्कर देव तथा कामी, क्रोधी, सरागी, कुदेव) तथा दो धर्मों (अहिंसा और हिंसा रूप) को, दो गुरुओं (आरंभ और परिग्रह रहित गुरु) को सेवन करता है या उनकी भक्ति पूजा करता है, वह उन्मत्त के समान कर्तव्य और अकर्तव्य के ज्ञान से रहित वैनयिक मिथ्यादृष्टि है।

हे भव्य ! तू ऐसे तीर्थंङ्कर भगवान की पूजा भक्ति कर जो कि विद्वान् रूपी कुमुदों को (चन्द्र विकासी कमलों को) प्रफुल्लित करने के लिये चन्द्रमा के समान है, समस्त दुःखों का नाश करने वाले हैं, देवेन्द्र चक्रवर्ती द्वारा पूज्य है, धर्मरूपी रत्नों के लिये समुद्र हैं, अपना तथा पर का कल्याण करने वाले हैं, स्वर्ग और मोक्ष के कारण हैं एवं सहस्र गुणों के खजाने हैं।

आगे और भी भगवान की स्तुति का महत्व वर्णन करते हैं—

"त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजा—
माक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु—
सूर्यांशुभिन्नमिवशार्वरमन्धकारम् ॥ ७ ॥ [भक्तामरस्तोत्र]

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी स्तुति, भक्ति पूजन करने से प्राणियों के बहुत जन्मों के पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। जैसे सूर्य की किरणों से रात्रि का भ्रमर के समान काला अंधेरा शीघ्र नष्ट हो जाता है।

और भी कहा है—

"ज्योतिर्जालमिवाब्जिनी प्रियतमं प्रीतिर्न तं मुञ्चति,

श्रेयः श्रीर्भवतीह तत्सहचरी ज्योत्स्ना सुधांशोरिह ।
सौभाग्यं तमुपैति नाथमवनेः सेनेव तं कांक्षति,
स्वर्गश्लाघ्यसुतावशेवतरुणं योऽर्चां विधत्तेऽर्हताम् ॥ १ ॥
मः श्लाघ्यः कृतिनां ततिः सुकृतिनां तं स्तौति तेनात्मनो,
वंशोऽशोभि नमन्ति योजितकरास्तस्मै प्रजाः भूभुजां ।
तस्मान्नः प्रथितः परोऽस्तिभुवने जागर्ति चित्तार्तिहृत्,
कीर्तिस्तस्य वसन्ति भोगनिवहास्तस्मिन् जिनं यो ऽर्चति ॥ २ ॥
न भ्रू: साटोपकोपा न च करयुगलं चापचक्रादिचिह्नम्,
कान्ता कान्तश्च नाको न च मुखकमलं सप्रकोपप्रसादं ।
यानासीना न मूर्तिर्न च नयनयुगं कामकामाभिरामं,
हास्योत्फुल्लो न गल्लो स मय भवभिदो यस्य देवः सः सेव्यः ॥ ३ ॥"

अर्थ—जो धार्मिक पुरुष तीर्थंङ्कर भगवान् की भक्ति व पूजन करता है उससे सभी प्राणी स्नेह करने लगते हैं वह जनता का इतना प्रीति पात्र बनजाता है कि लोक उसको इसप्रकार नहीं छोड़ते कि जैसे सूर्यको किरणें सूर्यको। चन्द्रिका जिस प्रकार चन्द्रमा को नहीं छोड़ती उसप्रकार उसको कल्याण रूपी लक्ष्मी भी नहींछोड़ती। एवं स्वर्गलक्ष्मी भी उस पुरुष को इसप्रकार चाहती है जैसे तरुणी तरुण-पुरुष को चाहती है।

जो जिनेन्द्र भगवान् की पूजा भक्ति करता है उसकी पुण्यवान् पुरुष प्रशंसा एवस्तुति करते हैं, उसी जिनेन्द्र—भक्त द्वारा कुटुम्ब की शोभा बढ़ती है, राजा लोग भी उसे हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं संसार में उसकी अत्यन्त प्रशंसा होती है, उसकी कीर्ति जगत में विस्तृत हो जाती है, और उसको उत्तम चक्रवर्ती के भोगोपभोग की सामग्री मिलती है।

जिसकी भ्रकुटी क्रोध के कारण चढ़ीहुई नहीं है, तथा जिसके हाथोंमें धनुष चक्र आदि हथियार नहीं है, जिसके पास स्त्री नहीं

है, जिसके मुखपर क्रोध या राग की छटा नहीं है, जिसके गाल हंसी से फूलेहुए नहीं हैं—ऐसा वीतराग देव है, उसके क्षुधातृषादिक अष्टादश दोष नहीं हैं वह सर्वज्ञ और हितोपदेशी है, ऐसे तीर्थङ्कर भगवान् की पूजन करनी चाहिये।

समन्तभद्राचार्य, जो कि विक्रम के दूसरी शताब्दी में हुए हैं, मूलसंघके विद्वत्कचूडामणि बड़े भारी दार्शनिक एवं बहुश्रुत प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य थे। इनका हृदय भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति से ओतप्रोत था। भस्मक व्याधि के कारण इन्होंने आचार्य श्री की आज्ञा से मुनि दीक्षा को छोड़ दी थी, उस समय काशी में शिवजी के मन्दिर में सब मिष्टान्न खा जाया करते थे। कुछ दिन के पश्चात् जब भस्मक रोग चला गया तब उनके खाने से मिष्टान्न बचने लगा। फिर शिव कोटि राजा, जो कि उस शिव मन्दिर के संरक्षक एवं शिव भक्त थे ने पता लगाया कि यह क्या कारण है कि प्रथम तो शिवजी का भोग नहीं बचता था अब क्यों बचता है? अनन्तर पता चल गया कि इस मिष्टान्न के भोगी समन्तभद्र हैं। उनसे कहा गया कि आप शिवजी को नमस्कार करो, उन्होंने राजा के क्रूर आग्रह पर भी उनको नमस्कार नहीं किया। अनन्तर स्तुति भी की तो स्वयम्भू स्तोत्र द्वारा २४ तीर्थङ्करों की ही की, तत्पश्चात् उस शिवलिङ्ग में चन्द्रप्रभ भगवानकी मूर्ति निकली।

उनका वाक्य निम्न लिखित है—

"सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते, द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि, प्रभो! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ६६ ॥ [स्वयंभूस्तोत्र]

अर्थ—हे भगवन्! आपके भक्त अपने आप धनाढ्य तथा स्वर्ग लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं। जो आपकी निन्दा करता है, वह व्याकरण के क्विप् प्रत्यय के समान नरक निगोद के कष्टों को सहता है, किन्तु आप उदासीन हो, यह सचमुच आश्चर्यकारी है। इत्यादि भक्ति का प्रवाह बहाया है।

अथ पूजन के प्रकारादि दिखाते हैं—

पूजन के संक्षेप से दो भेद हैं (१) प्रत्यक्ष पूजन (२) परोक्ष पूजन।

प्रत्यक्ष पूजन वह है जो समवसरण में गंधकुटी के मध्य अष्ट प्रातिहार्यातिशय से विराजमान तीर्थङ्कर भगवान की पूजा की जाती है, क्योंकि भगवान् तीर्थङ्कर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय सहित जीवनमुक्त अवस्था में

विराज मान हैं। यद्यपि आजकल इस भरत क्षेत्र में साक्षात् अरहन्त भगवान् नहीं हैं, किन्तु विदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी आदि २० तीर्थङ्कर विद्यमान हैं, उनकी वहां जो पूजन की जाती है वह भी प्रत्यक्ष पूजन है।

उन तीर्थङ्कर अर्हन्त की प्रतिमा की जो अर्हन्त की स्थापना पूर्वक पूजा की जाती है, वह परोक्ष पूजन है।

और भी कहा है—

"स परा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथ वीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥
जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेई सुद्धसम्मत्तं।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥ ११ ॥ [बोध पाहुड]

अर्थ—अनन्त चतुष्टय करि सहित तीर्थंकर भगवान् की बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह रहित शरीर वाली, जाके कछु परिग्रह का लेश नांही ऐसी दिगम्बर प्रतिमाएं वीतराग स्वरूप है। जिनधर्म विषैं ऐसी प्रतिमाएं कही है।

जो शुद्ध आचरण कूं आचरे बहुरि सम्यग्ज्ञान करि यथार्थ वस्तु को जाने हैं, सम्यग्दर्शन करि यथार्थ अपने स्वरूप देखे हैं, ऐसे शुद्ध सम्यक् जाके पाइये है, ऐसी निर्ग्रन्थ संयम रूप प्रतिमा है सो वांदवे वा पूजने योग्य है। [पं० जयचन्द्रजी]

और भी कहा है—

"सो देवो सो अत्थं धम्मं कम्मं सुदेइ णाणं च।
सो देइ अस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वजा ॥ २४ ॥ [बोध प्राभृत]

अर्थ—देव तिनकूं कहते हैं, जो अर्थ कहिये धन, अर धर्म, अर काम कहिये इच्छा का विषय ऐसा भोग, बहुरि मोक्ष का कारण सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र कूं देवे। तहां यह न्याय है, जो वाके वस्तु होय सो देवे, अर जाके जो वस्तु न होय सो कैसे देवे, इस न्याय करि अर्थ, धर्म स्वर्गादिक के भोग अर मोक्ष का सुख का कारण प्रव्रज्या कहिये दीक्षा जाके होय सो देव जानना। भावार्थ—

ऊपर जो देव का लक्षण कहा गया है, उसके स्वामी तो अर्हन्त देव ही हैं, सो उन्ही की भक्ति स्तुति सपर्या (पूजन) करना योग्य है। क्योंकि इनकी भक्ति भव्य प्राणियों को संसार समुद्र से पार करने के लिये जहाज का काम करती है।

और भी कहा है—

"त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहंति हृदयेन यदुत्तरन्तः।
यद्वा दृतिस्तरति तज्जलमेपनूनं,
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥ १० ॥ [कल्याणमन्दिर]

अर्थ—हे स्वामिन्! आप संसार के प्राणियों को संसार समुद्र से पार करने वाले हो, यह कैसे? ठीक तो यह है कि संसार के प्राणी आप को अपने हृदय में विराजमान कर के स्वयं ही पार होते हैं, यह उचित ही है। क्योंकि मशक जो पानी के ऊपर तैरती हुई प्रतीत होती है उसका कारण यह है कि उसके अन्दर हवा भरी हुई है। उसी प्रकार हे नाथ! जो आपके पवित्र नाम रूपी वायु को हृदय में धारण करता है, वह पाप रूपी बोझे से हलका होकर अवश्य संसार समुद्र से पार होगा। यह ध्रुवसत्य है त्रिकालाबाधित है।

ऐसे वीतरागी, त्रिकालदर्शी और हितोपदेशी तीर्थङ्कर प्रभु की जंगम प्रतिमा होती है जो कि साक्षात् इस काल में नहीं हैं। यह अवश्य है कि अरहंत भगवान् की कृत्रिम और अकृत्रिमा प्रतिमाएँ मौजूद हैं। ये प्रतिमाएँ साक्षात् अरहंत भगवान् के समान हैं, केवल इनमें और अरहंत भगवान में चेतनता और अचेतनता का ही अन्तर है। ऐसी प्रतिमाओं की भक्ति, पूजा, इन्द्रादिक देव स्वयं जाकर करते हैं जिससे उन्हें सातिशय पुण्य बन्ध होता है। कहा भी है—

तीनो लोकों में जिन मंदिर और प्रतिमाएँ

"भवणवितर जोइस विमाणणरतिरियलोयजिणभवणे।
सव्वामरिंदनरवइ संपूजिय वंदिए वंदे ॥ २ ॥ [त्रिलोकसार]

अर्थ—इस लोकाकाश के तीन भेद हैं, (१) अधोलोक (२) मध्यलोक (३) और ऊर्ध्वलोक। इन तीनों लोकों में भगवान जिनेन्द्र के

असंख्यात जिन मन्दिर हैं, उनकी गणना बताते हैं। अधोलोक में (खरभाग, पङ्कभाग में) व्यन्तर और भवनवासी देवों के निवास है। अर्थात् उनके महल हैं। उनमें से व्यन्तरों को छोड़कर भवन वासियों की संख्या ७७२०००००० सात करोड़ बहत्तर लाख है। एक एक चैत्यालय में पांचसौ धनुष के आकारवाली १०८ एक सौ आठ खड्गसन एवं पद्मासेन अकृत्रिम जिन बिम्ब विराजमान हैं।

मध्यलोक के अकृत्रिम चैत्यालयों का प्रमाण निम्न पद्य से बतलाते हैं—

"नव नव चतुः शतानि च सप्त च नवतिः सहस्रगुणिताः षट्।
पंचाशत्पंचवियत्प्रहताः पुनरत्र कोट्योऽष्टौ प्रोक्ताः॥"

अर्थ—मध्यलोक में ४५८ चैत्यालय हैं। वे चैत्यालय दो प्रकार के हैं (१) पूर्ण चैत्यालय, जिन में ऊपर लिखे प्रमाण प्रतिमा विराजमान हैं (२) अर्द्ध चैत्यालय, जिनमें ५४ प्रतिमाएँ विराज मान हैं। ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवों के ८४९७०२३ जिन मन्दिर हैं जिनमें एकसौ आठ प्रतिमाएं प्रति मन्दिर में विराजमान हैं। इस प्रकार कुल ८५६९७४८१ अकृत्रिम जिन मन्दिरों की संख्या है। इन के सिवाय और भी असंख्यात जिन मन्दिर हैं। व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के हैं ऐसा भी पाठ है। ये चैत्यालय भी १०८ एक सौ आठ जिन बिम्बों कर शोभायमान हैं। उक्त अकृत्रिम चैत्यालयों की प्रतिमाएं बहुत मनोज्ञ हैं, मानो अपने मुखारविन्द से दिव्यवाणी का ही उपदेश देती है, करोड सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति को तिरस्कृत करती है। जिन के पवित्र दर्शन मात्र से ही जन्म जन्मान्तरों के पाप नष्ट हो जाते हैं, और सम्यग्दर्शन रूपी चिन्तामणि की प्राप्ति होती है। जिनकी आदर्श रूप मुद्रा क दर्शन से महा वैराग्य रूप परिणाम हो जाते हैं। ये प्रतिमायें पृथिवीकायिक अचित्त द्रव्य की होती हैं। इनके दर्शनों का सौभाग्य देवेन्द्र, देव, तथा चक्रवर्ती, नारायण, आदि पुण्यशाली पुरुषों को होता है। और वे लोग दर्शन के प्रभाव से संसार समुद्र से पार होकर वास्तविक सुख को प्राप्त करते हैं।

"णवकोडि सयापणवीसा लक्खा तिप्पण सहस सगवीसा।
नउसय तइ अड़याला जिण पड़िमा अकिट्टमं वंदे॥"

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् की समस्त अकृत्रिम प्रतिमायें नवकोड़ सौ पच्चीस आदि अर्थात् ९२५५३२७९४८ (नौ अरब पचीस करोड़ तरेपन लाख सत्ताईस हजार नौ से अड़तालीस) हैं उनको वंदता हूँ।

इस काल में भगवान की मूर्ति ही आत्म कल्याण के लिये सच्चा सहारा है। यह संसार समुद्र से पार करने के लिये नौका के

सदृश है। वीतराग भावों को उत्पन्न करने में निमित्त कारण हैं। कहा भी है—

"आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृति पूजनम्।
तार्क्ष्य मुद्रा न किं कुर्यात् विषसामर्थ्यसूदनम् ॥ १ ॥ [यशस्तिलक]

अर्थ—तीर्थङ्कर भगवान के न होने पर भी उनकी प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की भक्ति पूजन से महान् सातिशय पुण्य बंध होता है जैसे गरुड़ के न होने पर भी उसकी मूर्ति मात्र से क्या सर्प का विष नहीं उतरता ? अवश्य उतरता है।

संसार मे बाह्य निमित्त के अनुकूल प्राणियों के भाव होते हैं। दृष्टान्त के लिये यदि कोई मनुष्य वेश्या की फोटो देखता है तो उसके हृदय में काम वासना पैदा हो जाती है। यदि कोई पुरुष किसी वीर पुरुष की फोटो देखता है, तो उसमें वीर रस का संचार होता ही है तथा यदि साधु महात्माओं की फोटो देखता है, तो उसके हृदय में वैराग्यभावों का सचार होना है। उसी प्रकार तीर्थङ्कर भगवान् की आदर्श प्रतिमा के दर्शन पूजा से आत्मा में वीतराग विज्ञान भावों का सचार हुए बिना नहीं रहता। तीर्थङ्कर भगवान् की प्रतिमा के देखने से आत्मा में ये भाव होते हैं कि धन्य है इन का आदर्श त्याग, धन्य है इन की आत्मीक और शारीरिक शक्ति जिसके द्वारा अनादि कालीन वैभाविक शक्ति से उत्पन्न हुई आत्मीक वैभाविक परिणति को नाश कर आत्मा स्वाभाविक, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप शक्ति को प्राप्त कर जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए हैं। वीतराग प्रभु की प्रतिमा के दर्शन से वीतराग भावों की उत्पत्ति होती है। यदि वीतराग प्रभु की मूर्ति न होती, तो फिर हमारी आत्मा मे ये आदर्श भाव भी पैदा नहीं हो सकते। तब मोक्ष के उपाय को नहीं सोच सकते और सांसारिक विषय कषाय रूपी कीचड़ से किसी प्रकार नहीं निकल सकते। अतः तीर्थङ्कर भगवान् की मूर्ति धार्मिक भाव पैदा करने में प्रधान कारण है।

जो लोग यह कहते हैं, कि जैन लोग पत्थर की उपासना करने वाले हैं, वे लोग जैनाचार्यों के सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं। क्यो कि जैन लोग तीर्थङ्कर भगवान् की मूर्ति को देखकर भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी आत्माकी विशुद्ध वीतराग विज्ञान परिणति की उपासना करते हैं कि हे प्रभो! आपने राज्य लक्ष्मी को तृण के समान अगण्य समझते हुए त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की, जिसमें लेश मात्र भी आरंभ परिग्रह नथा आपने ध्यान रूपी प्रज्वलित अग्नि से घातिया रूप कर्म इन्धन को भस्म किया। जिससे आपकी आत्मा में, अनन्त चतुष्टय उत्पन्न होगये। तथा जन साधारण में पाये जाने वाले क्षुधा, तृषा, भय, राग द्वेष, चिन्ता आदि १८ अठारह दोषों से रहित होकर वीतरागता की परा काष्ठ को प्राप्त हुए। आपकी आत्मा में अनन्त गुण हैं जिन्हें बृहस्पति भी निरूपण करने में समर्थ है फिर हम

सरीखे अल्पज्ञानी उनका निरूपण कर किस प्रकार भक्ति प्रदर्शन कर सकते हैं। तथापि "दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः" अर्थात् दीपक की लो से क्या सूर्य की उपासना नहीं की जाती ? उसी नीति के अनुसार आप की भक्ति के कारण उपासना करने को तत्पर हो रहे हैं। हे प्रभो ! आपने केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर उस महान् धर्मतीर्थ का निरूपण किया, जिसकी छत्र-छाया में रह कर संसार के प्राणी आवागमन से छुटकारा पाकर वास्तविक मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति करते हैं। इत्यादि रूप से जैन लोग मूर्ति को देखकर उस मूर्तिमान् तीर्थङ्कर प्रभु की उपासना करते हैं। यदि जैन लोग मूर्ति देख कर पत्थर की उपासना करते कि हे पत्थर! तू कहां से आया ? तू बड़ा मनोज्ञ है, तब जैन लोगों पर पत्थर की उपासना का दोष दिया जा सकता था; किन्तु ऐसा कदापि नहीं है।

प्रश्नः—जैन लोग केवल ऋषभ देव आदि की मूर्ति को क्यों पूजते हैं ? अन्य देवों की मूर्तियों को क्यों नहीं पूजते ? क्या वे जैनों के शत्रु हैं !

उत्तर—इसका समाधान इस प्रकार जानना चाहिए—

"बंधुर्नः न स भगवान् रिपवोऽपिनान्ये,
साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषां।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग्विशेषं,
वीरं गुणाश्रयजलोलतयाश्रिताः स्मः॥"

अर्थ—भगवान् महावीर हमारा सगा भाई नहीं है और न दूसरे हरि हरादिक हमारे शत्रु ही हैं। जितने भी धर्म प्रवर्त्तक विशिष्ट पुरुष हुए हैं उन में से एक को भी हमने प्रत्यक्ष नहीं देखा। किन्तु अलग २ उनके कहे हुए शास्त्रों को पढ़ा है तथा उनके जीवन चरित्र पढ़े हैं। अन्त में हमने निष्पक्ष दृष्टि से यह निष्कर्ष निकाला है कि दूसरे देवों में राग द्वेष, मोह, अज्ञान आदि दोष देखे जाते हैं जब कि हमारे ऋषभ देव से लेकर वीर प्रभु पर्यन्त २४ तीर्थङ्कर वीतरागता, विज्ञानता, स्वार्थत्याग (हितोपदेशी सद्गुण) आदि गुणों की निधि थे, परमात्मा थे, सच्चे धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक थे। इसलिये निर्दोषी होने के कारण एवं सद्गुणों की निधि होने के कारण हम उन तीर्थङ्कर भगवान की भक्ति स्तुति तथा पूजा करते हैं। उनकी प्रतिमाओं की भक्ति स्तुति करने से शुद्ध आदर्श की स्मृति के कारण हमारा आत्म-कल्याण होता है। कहा भी है—

प्रश्न —प्रतिमा धातु पाषाण की, प्रगट अचेतन अंग ।
पूजकजन को पुण्य फल, क्योंकर देय अभंग ॥
उत्तर—भाव सुभाव सुजीव के, उपजे कारण पाय ।
पुण्य पाप इनते बंधे, यो भाखी जिनराय ॥ १ ॥

सारांश—जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं से उन तीर्थङ्करों का स्मरण होता है, जोकि हमारे जैन धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हुए हैं ।

कृत्रिमप्रतिमाएं क्या हैं ?

धातु—(पीतल-चांदी और सुवर्ण आदि) पाषाण संगमरमर आदि तथा स्फटिक मणि, हीरा, पुखराज, आदि जवाहरातों से सामुद्रिक शास्त्र के आधार से बनी हुई प्रतिमाओं को कृत्रिम प्रतिमायें कहते हैं ।

कृत्रिम प्रतिमाओं का प्रादुर्भाव

इनकी स्तुति, भक्ति आदि महान् सातिशय पुण्य बंध का कारण है । इस भरत क्षेत्र में जितने भी जिन चैत्यालय (कृत्रिम) हैं वे सब विदेह क्षेत्र की वर्तमान रचना के अनुसार बनाये गये हैं । क्योंकि जब भरत क्षेत्र में भोग भूमि की रचना का अन्त हुआ और कर्म भूमि का प्रारम्भ हुआ उस समय यह रचना नहीं थी । जब आदिनाथ तीर्थङ्कर अवतीर्ण हुए उस समय प्रजा के लोगों को कर्मभूमि की रचना का हाल ज्ञान नहीं था । अत एव भगवान् आदिनाथ प्रभु ने इन्द्र को आज्ञा दी कि जिस प्रकार रचना विदेह क्षेत्र में है उसी प्रकार की रचना यहां परभी करो जिससे कि प्रजा का कल्याण हो । जिन कल्पवृक्षों से प्रजा के जीवन का निर्वाह होता था वे नष्ट प्रायः हो चुके थे । इस लिये प्रजा के लोग क्षुधा से पीड़ित होकर आजीविका के उपायों को पूछने के लिये भगवान् ऋषभ देव के पास पहुंचे । भगवान् ऋषभ देवने इन्द्र के द्वारा विदेह क्षेत्र के अनुकूल प्रजा को असि, मषि, कृषि वाणिज्यादि जीविका के षट्कर्मों का उपदेश दिलवाया । तथा जिन मन्दिर बनवाना, प्रतिमाओं की स्थापना करना आदि धार्मिक क्रियाएं भी समझाई । भगवान की आज्ञानुसार इन्द्र ने जनता को सब रचना स्पष्ट समझाई । क्योंकि इन्द्र अवधिज्ञानी और द्वादशांग के पाठी होते हैं । अतः उसके द्वारा प्रचार शीघ्र हुआ । जिस प्रकार के चैत्यालयों या प्रतिमाओं की रचना उसकाल में जनता को समझाई गई थी, ऐसी ही रचना यहां पर मौजूद है ।

जो लोग यह मानते हैं कि मूर्ति पूजा जैनों ने अभी कुछ दिनों से चलाई है, यह उनका भ्रम है । वे यदि निष्पक्ष दृष्टि से

जैन सिद्धान्तों को पढ़ें, तो उनको प्रतीत हो जावेगा कि यह धार्मिक क्रिया कर्मभूमि की आदि से चली आरही है। एवं महाजन परिगृहीत है अर्थात् बड़े २ पूज्य पुरुषों द्वारा विधेय है। अतएव पूज्य परिगृहीत यह मार्ग परम श्रद्धेय है। प्रतिमा उन पूज्य धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थङ्करों की स्मारक है जिनके पवित्र नाम के स्मरणमात्र से श्रीपाल जैसे कुष्ठी का कुष्ठ दूर हो गया, वादीभसिंह जैसे रोगियों का रोग दूर होकर स्मरण मात्र से सुवर्णमय कान्तिमान् शरीर होगया, जिनकी पवित्र भक्ति से धनञ्जय कवि के पुत्र का सर्प-विष दूर हो गया. जिनकी सच्ची भक्ति से सीता का प्रज्वलित अग्निकुण्ड जलप्रवाह रूप मे परिवर्तित हो गया। इस लिये सच्चे आत्मविश्वास से भव्य प्राणियों को तीर्थङ्कर भगवान् की आकृति-प्रतिमाएं पूजनी चाहिये। जिससे कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर वास्तविक सुख प्राप्त हो सके।

और कहां भी है—

"जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदाऽस्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसारवारणं मोक्षकारणम् ॥ १ ॥"

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति मेरे हृदय मे सदा रहे जिसके द्वारा संसार के दुःखों का नष्ट करने वाला सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

नये मंदिर बनवाने की अपेक्षा जर्णोद्धार में विशेष पुण्य

वर्तमान में हमारे देश में प्राचीन और अर्वाचीन जिन मन्दिर और जिन प्रतिमायें बहुत काफी संख्या में पाई जाती हैं। कहीं २ तो पूजन प्रक्षाल तक की भी व्यवस्था नहीं होती। प्राचीन अनेक जिन मन्दिर जीर्ण और शीर्ण अवस्था में मौजूद हैं। इसलिये उनका जीर्णोद्धार होना विशेष आवश्यक एवं सातिशय पुण्य बन्ध का कारण है। शास्त्रकारों ने नये मन्दिर बनवाने की अपेक्षा प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करना विशेष पुण्य बंध का कारण बतलाया है। अभिप्राय यह है कि जहां पर जिन मन्दिर नहीं हैं वहां भव्य प्राणियों के धर्म-साधन के लिये नया मन्दिर बनवाने वालों को धर्म स्तंभ खड़ा करने के कारण सातिशय पुण्य का बंध अवश्य है परन्तु जहां जिन मन्दिर मौजूद है वहां पर अपनी नामवरी या मान कषाय की पुष्टि के लिये नया मन्दिर बनवाना कोई विशेष लाभ कारक प्रतीत नहीं होता है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि नये मन्दिर या नई प्रतिमायें बनवाने वाले व्यक्ति पापी हैं, क्योंकि जो व्यक्ति व्यापार आदि जीविकोपयोगी साधनों से गाढ़ी कमाई द्वारा धन संचित करके, उससे नये मन्दिर बनवाना या प्रतिमाएं बनवाना आदि धर्म रक्षा के कार्यों में खर्च करके अपनी उदारता एवं धार्मिक निष्ठा का परिचय देता है, वह अवश्य पुण्य बन्ध करता है। परन्तु यदि वह पुरातन मन्दिरों के

जीर्णोद्धार में, तथा जहां पूजन प्रक्षाल नहीं होती वहां पर पूजन प्रक्षाल के प्रबन्ध में अपनी गाढ़ी कमाई से संचित की हुई संपत्ति को लगावे तो उसे विशेष सातिशय पुण्य बन्ध होगा। साथ में जैन समाज के धर्मायतनों की रक्षा होने से जैन धर्म की संस्कृति और सभ्यता की रक्षा का भी महान् श्रेय उसे प्राप्त होगा।

इसलिये समाज के धर्मात्मा सज्जनों को पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार करना व कराना चाहिये तथा पुराने शास्त्रों को विद्वानों द्वारा प्रतिलिपि कराकर उन्हें प्रकाशित कराना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो वे मन्दिर और शास्त्र नष्ट भ्रष्ट हो जावेगें।

जहां पर शास्त्र भंडार बन्द पड़े हुए हैं जो कि सदियों से खोले तक नहीं गये उन्हें खुलवाकर जिनवाणी माता को बन्धनों से मुक्त करना और जिन भक्ति का श्रेय प्राप्त करना चाहिये।

यदि उक्त कार्य—(जीर्णोद्धार) (तथा सरस्वती भवनों को खोल कर उनका रक्षण) न किया जावेगा तो हमारे धर्मायतन तथा जिनवाणी नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। ऐसा होने से हम अपनी संस्कृति, सभ्यता और आचार विचार खो वैठेंगे। हम फिर संस्कृति तथा सभ्यता ता के अभाव में ऐसे औंधे मुंह गिरेंगे कि अवनति का ठिकाना न रहेगा। इसलिये जहां २ पर शास्त्र भंडार बंद पड़े हुए हैं, वहां की पंचायत को प्रेरणा कर भंडार खुलवाने चाहिये। तथा स्थान २ पर सम्यग्ज्ञान आयतनों (पाठशाला एवं विद्यालयों) को खुलवा कर उससे निकले हुए विद्वानों द्वारा संसार में जैन धर्म के पवित्र सिद्धान्तों को चमकाकर सातिशय पुण्य बंध करना चाहिये।

और भी है—

"नश्यत्येव ध्रुवं सर्वं श्रुताभावेऽत्रशासनं।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्रुतसारं समुद्धरेत् ॥ १ ॥ [प्रबोधसार]

अर्थ—शास्त्र ज्ञानी विद्वानों के बिना धर्म नष्ट हो जावेगा इसलिये पूर्ण प्रयत्न से शास्त्रों तथा शास्त्र-ज्ञानी विद्वानों को बहु संख्या में तैय्यार करने का प्रयत्न करो, क्योंकि बिना ज्ञान के प्रचार से धर्म की वृद्धि—उन्नति—नहीं हो सकती है, और न समाज की भी श्रीवृद्धि हो सकती है।

पूजा द्रव्य का वर्णन

"प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पं।

निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ १५४ ॥ [पुरुपार्थ सिद्धय् पाय]

अथ—प्रातः काल उठकर प्रातः काल सम्बन्धी शारीरिक शुद्धि (स्नानादि) करके श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान की पूजा प्रासुक (अचित्त) आठों द्रव्यों (जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, और फल) द्वारा भक्ति पूर्वक यथाविधि करनी चाहिये।

शङ्का—यह श्लोक प्रोषधव्रती के प्रकरण का है। इससे सर्व साधारण पर किस प्रकार समन्वय होगा ?

उत्तर—यद्यपि शास्त्रकारों ने सचित्त द्रव्यों से पूजन करने का निषेध नहीं किया है; परन्तु हम तो आचार्यवर श्री समन्तभद्रस्वामी के इस निम्न निर्दिष्ट आदर्श मय सिद्धान्त को महत्व देते हैं—

"पूज्यं जिनं त्वार्चयतोजनस्य
सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य
न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥ ५८ ॥ [वृहत्स्वयंभू स्तोत्र]

अथ—हे प्रभो ! आपकी जल, चन्दन, अक्षत, आदि अष्ट द्रव्यों से पूजन करने वाले को यद्यपि प्रारंभ सम्बन्धी दोष का लेश (अंशमात्र) होता है; किन्तु आपकी भक्ति और पूजन के माहात्म्य से विशेष सातिशय पुण्य राशि का बन्ध होने के कारण वह दोष नगण्य है अर्थात्—गिना नहीं जाता है, जैसे बड़े भारी अथाह समुद्र में विषकी बूंद की कोई गिनती नहीं है। इसलिये भव्य प्राणियों को सचित्त पूजन की अपेक्षा अचित्त प्रासुक द्रव्य से पूजन करना विशेष लाभदायक है। ऐसा हमने समझा है।

शङ्का—यदि आप जिन पूजा आदि धार्मिक क्रियाओं में कमसे कम आरंभ का समर्थन करते हैं तव तो जिनमन्दिर बनवाना उसकी प्रतिष्ठा आदि धार्मिक क्रियाओं में तो विशेष आरंभ होता है तो उसका भी निषेध होना चाहिये ?

उत्तर—यद्यपि मन्दिर आदि निर्माण में विशेष आरम्भ होता है किन्तु उसके विना धर्म का मूलोच्छेद (जड़ से नष्ट होना) सम्भव है। इसलिये पूर्वाचार्यों ने गृहस्थों के कल्याणार्थ मन्दिर बनवाना और प्रतिष्ठा रथ यात्रादि कराने का आदर्श मार्ग निरूपण कर इन्हें सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण बतलाया है क्योंकि जब तक मन्दिर रहेगा तब तक अनेक भव्य प्राणी श्रीमज्जिनेन्द्र की

भक्ति तथा शास्त्र स्वाध्याय आदि धर्मिक क्रियाओं के द्वारा अपने आरम्भ परिग्रह जनित पापों की शुद्धि कर सातिशय पुण्यबन्ध करेंगे और इसका महान् श्रेय महान् पुण्य मन्दिर बनवाने वाले महात्मा धर्मरत्न को होगा। यदि मन्दिर न हो तो धर्म ही उठ जावेगा। अतः इसका होना अतीव आवश्यक है जबकि प्रासुक द्रव्य से पूजन करने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि जलादि द्रव्य तीर्थंङ्कर भगवान् के आगे केवल भावों की शुद्धि के लिये चढ़ाये जाते हैं।

कहा भी है;—

"पुष्पादि रसनादिर्वा न स्वयं धर्म एवहि।
चित्यादिरिवधान्यस्य किन्तु भावस्य साधनम् ॥ १ ॥ [यशस्तिलक चम्पू सोमदेव सूरि]

अर्थ—पुष्प आदि द्रव्य, या भोज्य सामग्री स्वयं धर्म नहीं है, किन्तु धर्म के कारण हैं, जैसे पृथ्वी धान्य को उत्पन्न करनेवाली है स्वयं धान्य नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार आचार शास्त्र के अनुसार भक्ष्य वस्तु अन्नादि के खाने से भावों की निर्मलता होती है, उसी प्रकार जलादि अष्ट द्रव्यों से पूजन करने वाले के भावों में विशुद्धि होती है। इसी कारण प्रासुक द्रव्य ही विशेष भावोंकी शुद्धि में कारण होसकते हैं। अत एव श्रीमज्जिनेन्द्र की पूजन एक या अष्ट द्रव्यों से भाव पूर्वक यथाविधि हो सकती है।

पूजन करने से पूर्व स्नानादिशुद्धि।

पूजन करते समय स्नान आदि शारीरिक शुद्धि करनी चाहिये बिना शारीरिक शुद्धि किये श्रावक को जिनेन्द्र प्रतिमा को स्पर्श करने का अधिकार नहीं है।

प्रश्न—आपने ऊपर के कथन में कहा है कि स्नान द्वारा शरीर को शुद्ध किये बिना जिनेन्द्र को स्पर्श करने का अधिकार नहीं है, सो जब किसी प्रकार की आपत्ति आजावे जैसे आग लगजावे या कोई ऊंची प्रतिमा को चुराकर ले जाने या इस प्रकार अन्य कोई उपद्रव आ जावे तो यह बात कैसे बनेगी ?

उत्तर—जो ऊपर के कथन में विधि अथवा विधान बतलाया गया है वह उत्सर्ग मार्ग का है, अपवाद मार्ग का नहीं है। अपवाद

मार्ग की जहाँपर आवश्यकता हो वहाँपर विधिविधान देखने की जरूरत नहीं है, क्यों कि वह समय आपत्तिजनक हुआ करता है। इससे ऐसे समय पर तो कार्य करनाही विधि विधान माना है, किन्तु ऐसा न हो कि जिससे धर्म मार्ग का लोप होजावे अतः उत्सर्ग मार्ग का विधान किया जाता है। बाकी अपवाद और उत्सर्ग का सदा सम्बन्ध रहता है। जिसका नाम ही उत्सर्ग और अपवाद है एक के साथ में दूसरा सदा ही लगा रहता है। ऐसा निश्चय है।

कहा भी है—

"अन्तः शुद्धिं बहिः शुद्धिं विदध्याद्देवतार्चनम् ।
आद्यादौश्चित्यनिर्मोचादन्या स्नानाद्यथाविधि ॥ १ ॥"
नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे ॥ २ ॥
सर्वारम्भपरिग्रहस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिनः ।
अविधाय बहिः शुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥ ३ ॥ [यशस्तिलक चम्पू]

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र की पूजा, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शुद्धि करके करनी चाहिये। अन्तरङ्ग शुद्धि (कषायों को जीतना) से चित्त पवित्र रहता है, और बाह्य शुद्धि स्नान से होती है ?गृहस्थ श्रावक को भगवान् की पूजा के समय स्नान करना चाहिये क्योंकि श्रावक आरंभ परिग्रह में लीन रहता है। इसलिये उसे बाह्य शुद्धि किये बिना, जिनेन्द्र पूजा का अधिकार नहीं है ॥ ३ ॥

आगे पूजक का लक्षण बतलाते हैं—

"अथ वक्ष्यामि भूपाल शृणु पूजकलक्षणम् ।
लक्षितं भगवद्दिव्यवचस्वखिलगोचरे ॥ १ ॥
त्रैवर्णिकोऽभिरूपाङ्गः सम्यग्दृष्टिरणुव्रती ।
चतुरः शौचवान् विद्वान् योग्यः स्याज्जिनपूजने ॥ २ ॥

न शूद्रः स्यान्नदुर्दृष्टिर्न पापाचारपण्डितः ।
न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नान्त्यकपरिदूषितः ॥ ३ ॥
नाधिकाङ्गो न हीनाङ्गो नातिदीर्घो न वामनः ।
नाविदग्धो न तन्द्रालुर्नातिवृद्धो न बालकः ॥ ४ ॥
नाति लुब्धो न दुष्टात्मा नातिमानी न मायिकः ।
नाशुचिर्न विरूपाङ्गो नाजानन् जिनसंहिताम् ॥ ५ ॥
निषिद्धः पुरुषो देवं यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ।
राजराष्ट्रविनाशः स्यात् कर्तृकारकयोरपि ॥ ६ ॥
तस्माद्यत्नेन गृह्णीयात् पूजकं त्रिजगद्गुरोः ।
उक्तलक्षणसंपुक्तः कदाचिदपि ना परम् ॥ ७ ॥
यदिन्द्रवृन्दार्चितपादपङ्कजं
जिनेश्वरं प्रोक्तगुणः समर्चयेत् ।
नृपश्चराष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत् ।
तथैव कर्ता च जनश्च कारकः ॥ ८ ॥ [जिनसंहिता]

अर्थ—हे राजन्! मैं अब श्री जिन भगवान के वचनानुसार पूजक का लक्षण कहता हूँ। उसको तुम सुनो। जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों मे से किसी एक वर्ण का धारी हो, चतुर हो, शोभवान् हो और विद्वान् हो वह जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के योग्य है। परन्तु शूद्र, मिथ्यादृष्टि, पापाचार में प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीचकर्म करके आजीविका करने वाला, रोगी, अधिक अङ्गवाला, अङ्गहीन अधिक लम्बे कद का, बहुत छोटे कदका (बौना) भोला या मूर्ख, निद्रालु या आलसी तथा अतिवृद्ध, बालक, अतिलोभी, दुष्टात्मा, अभिमानी मायाचारी, अपवित्र, कुरूप, और जिनसंहिता को न जानने वाला, पूजन करने के योग्य नहीं होता है ॥ ३-४-५ ॥ यदि निषिद्ध पुरुष भगवान् का पूजन करे तो राजा, देश, तथा पूजन कराने वाला का नाशक होता है। ६। इसलिये श्री जिनेन्द्र देव के पूजक को यत्नपूर्वक उक्त लक्षणों से युक्त

ग्रहण करना चाहिये, अन्यनहीं। यदि उल्लिखित लक्षण वाला पूजक इन्द्र से वन्दनीय श्री जिनेन्द्र देव के चरणकमल की पूजन करे तो राजा, देश तथा पूजन करने वाला एवं कराने वाला सुखी होते हैं।

इसलिये पूजन करनेवाले में उक्त सद्गुण अवश्य होने चाहिये। ऊपर लिखे हुए विशेषण, श्री जी की प्रतिष्ठा के समय पूजा प्रतिष्ठा करने वाले प्रतिष्ठाचार्य के समझने चाहिये।

अब पूजकाचार्य्य के लक्षण बताते हैं।

"इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः ॥ १४५ ॥
कुलजात्यादिसंशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी।
वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः ॥ १४६ ॥
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गंभीरो विनयान्विदः।
शौचाचमनसोत्साहो धनवान् कर्मकर्मठः ॥ १४७ ॥
सांगोपांगयुतः शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः।
स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः ॥ १४८ ॥
वारिमन्त्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः।
निराभिमानी मौनी च त्रिसन्ध्यं देववन्दकः ॥ १४९ ॥
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः।
क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः ॥ १५० ॥
न हीनांगो नाधिकांगो न प्रलम्बो न वामनः।
न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नातिबालकः ॥ १५१ ॥

न क्रोधादिकषायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च ।
नान्त्यास्त्रयो नतावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी ॥१५२॥ (धर्मसंग्रह श्रावकाचार ६ अ०)

अर्थ—इन उपर्युक्त पूजकाचार्य स्वरूप के प्रतिपादक श्लोकों में जो ब्राह्मण हो, वैश्य हो, शरीर से सुन्दर हो, सम्यग्दृष्टि हो, अणुव्रती हो, जिन संहितादि जैन शास्त्रों का जानने वाला हो, आलस्य एवं तन्द्रा से रहित हो, मान कषाय के अभाव रूप विनय सहित हो, शौच और आचमन से युक्त एवं उत्साही हो, ठीक २ अंगोपांग का धारक हो, पवित्र हो, लक्ष्य तथा लक्षण का जानने वाला हो, बुद्धिमान हो, ब्रह्मचारी अथवा स्वदार संतोषी हो, रोग रहित हो, नीच क्रियाओं का त्यागी तथा ऊंची और श्रेष्ठ क्रियाओं का करने वाला हो, जल स्नान, व्रतस्नान और मन्त्रस्नान से पवित्र हो, अभिमानादि से रहित हो, न हीनांग हो, न अधिक अंग वाला हो, लम्बे कद का एवं बिलकुल छोटे कद का (बौना) न हो, बदसूरत न हो, बूढा न हो, अति बालक न हो, क्रोध, मान, माया और लोभ, इन कषायों में से किसी भी कषाय का धारक न हो, धन का लोभी धन लेकर पूजन कराने वाला न हो, और पापाचारी न हो, इत्यादि विशेषण पद आये हैं उन से प्रकट होता है कि उपर्युक्त जो विशेषण पूजक के दिये हैं वे यहां पर स्पष्ट रूप से पूजकाचार्य के दिये हैं। श्लोकों पर दृष्टिपात कर विचारिये। श्लोक नं० १५१ और जिन संहिता का श्लोक नं० ४ यहीं तक मिलता है कि एक को दूसरे का रूपान्तर कह सकते हैं। इसी प्रकार निम्न लिखित तीन श्लोकों में पूजकाचार्य द्वारा पूजन के फल का वर्णन मिलता है वे भी श्लोक जिनसंहिता के ६ से ८ तक के श्लोकों से मिलते जुलते हैं—

"ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्रचेत् ।
तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत् ॥ १५३ ॥
कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम् ।
ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ॥ १५४ ॥
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयन्परमेश्वरम् ।
तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्धते ॥ १५५ ॥ (धर्मसंग्रह श्रावकाचार अधि० ६)

अर्थ—उल्लिखित दोषों का धारक पूजकाचार्य कहीं पर प्रतिष्ठा करावे तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाश को प्राप्त होते हैं और प्रतिष्ठाकारक अर्थात् प्रतिष्ठा कराने वाला भी अच्छे फल को प्राप्त नहीं होता। ऊपर जो पूजकाचार्य के लक्षण कह आये

हैं, यदि उन लक्षणों से युक्त पूजक परमेश्वर का पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करता है तो उस समय धन का खर्च करने वाला दाता, पुर, देश तथा राजा, ये सब दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

आगे और भी लक्षण प्रतिष्ठाचार्य के बताये हैं जैसे—

"लक्षणाभ्यासी, जिनागमविशारदः, सम्यग्दर्शन सम्पन्नः, देशसंयमभूषितः, वाग्मी, श्रुतबहुग्रन्थः, अनालस्यः, ऋजुः, विनयसंयुतः, पूतात्मा, पूतवाक्शुचिः, शौचाचमनतत्परः, साङ्गोपाङ्गेन संशुद्धः, लक्षणलक्ष्यवित्, नीरोगी, ब्रह्मचारी च स्वदारारतकोऽपी वा, जलमन्त्रव्रतस्नातः, निरभिमानी, विचक्षणः, सुरूपी, सत्क्रियः, वैश्यादिषु समुद्भवः" इत्यादि

इसी प्रकार प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में श्लोक नं १० से १६ तक प्रतिष्ठाचार्य का स्वरूप दिया गया है।

"कन्यागुणाङ्गः, रुजाहीनः, सकलेन्द्रियः, शुभलक्षण—सम्पन्नः, सौम्यरूपः, सुदर्शनः, विप्रोवा क्षत्रियोवैश्यः, विकर्मकरणोज्झितः, ब्रह्मचारी गृहस्थोवा, सम्यग्दृष्टिः, निःकषायः, प्रशान्तात्मा, वेश्यादिव्यसनोज्झितः, दृष्टसृष्टक्रियः, विनयान्वितः, शुचिः, प्रतिष्ठाविधिवित्सुधीः, महापुराणशास्त्रज्ञः, नचार्थार्थी, न चद्वेष्टि।

इत्यादि विशेषणपदों से प्रतिष्ठाचार्य के प्रायः वेही समस्त विशेषण वर्णनकिये हैं जो कि जिन संहिता में पूजक के और धर्म संग्रह श्रावकाचार में तथा पूजासार ग्रन्थ में पूजकाचार्य के लक्षण बतलाये हैं।

प्रश्न—ऊपर जो पूजक और पूजकाचार्य के लक्षण बतलाये हैं वे स्पर्श शूद्र में भी घटित होते हैं या नहीं ?

उत्तर—सिद्धान्तों में शूद्रों के दो भेद माने हैं एक भोज्य शूद्र और दूसरा अभोज्य शूद्र। अभोज्यशूद्र तो क्षुल्लक होही नहीं सकता ? और भोज्य शूद्र क्षुल्लक हो सकता है, सो भोजन के समय लोहे का पात्र रखता है और मुनि संघ में रहता है। इस प्रकार का कथन जैन शास्त्रों में मौजूद है, तब कहना पड़ता है कि स्पर्श शूद्र इतनी ऊँची जैन धर्म की प्रतिमा धारण कर सक्ता है, तो क्या जिनेन्द्र का पूजक नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है। कहाभी है—

"यद्वन्मलभृतं वस्त्रं शुद्धं नीरेण स्यात् ध्रुवम्।

तपोजलेन धौतो हि नीचः शुद्धो भवेन्महान् ॥५७॥ [सकल कीर्तिकृत प्रश्नो. श्रा. १६ परिच्छेद]

अर्थ—जिस प्रकार मैल लगा हुआ वस्त्र पानी से धोने पर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तप रूपी जल से धुल जाने पर अत्यन्त नीच पुरुष भी शुद्ध हो जाता है।

और भी कहा है—

"भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपास्विनाम्।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा शूद्रोदानेन शुद्धयति ॥ १ ॥ [सागारधर्मामृत पृ. ५६ टिप्पणक]

अर्थ—तात्पर्य-यहां पर बताया गया है "शूद्रो दानेन शुद्धयति" अर्थात् शूद्रको दान देने से शुद्ध माना है। तो शूद्र पूजन करने का अधिकारी स्वयं सिद्ध है क्योंकि पूजन से भी आहार दान उत्तम माना है। अतः इन विशेषणों से अर्थात् शास्त्राज्ञा से शूद्र अवश्य भगवान् का पूजन कर सकता है।

प्रश्न—क्या अस्पृश्य शूद्र भी स्पृश्य शूद्र के समान अधिकारी है अथवा कुछ अन्तर है ?

उत्तर—अस्पृश्य शूद्र भी जिनेन्द्र भगवान् के पूजन का अधिकारी है परन्तु स्पृश्य शूद्र के और इसके पूजन करने में अन्तर है स्पृश्य शूद्र जो प्रतिमा वेदिका में है। उसका पूजन करता है और अस्पृश्य केवल मानस्तंभ की प्रतिमाओं का ही पूजन करता है। क्योंकि इसके लिये मन्दिर के अन्दर जाना वर्जनीय है और जैन धर्म जीव मात्र के उपकार करने वाला है अतः इसमें दोनों शूद्रों के लिये आत्म-कल्याण का मार्ग बताया गया है।

यहां पर पूजन का तिर्यञ्चों को भी निषेध नहीं है। अनेक तिर्यञ्च भी श्री जी की भक्ति स्तुति और पूजन करने से स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं। पूजन की फल प्राप्ति के विषय में एक मेंढक की कथा सर्वत्र जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। कहा भी है—

"अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥"

अर्थ—अर्हन्त भगवान् के पूजा के माहात्म्य को राज गृही नगरी में एक फूल की पांखुड़ी को लेजाने वाले मेंडक ने देव पर्याय पाकर समव सरण में समस्त सज्जन पुरुषों के समक्ष प्रकट कर दिया (वह श्रेणिक के हाथी के पांव के नीचे मरगया था किन्तु भक्ति भाव से महावीर स्वामी को चढाने के लिये एक कमल पांखुडी मुंह मे ले जारहा था अतः मरकर देव हुआ और तुरत समवसरण में आकर भगवान् की पूजा की महत्ता प्रकट की) सागार धर्मामृत में इस बात का समर्थन पाया जाता है।

मेंडक की कथा—

विपुलाचल पर अन्तिम तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी का समवसरण आया, और उसके समाचार से हर्षोत्फुल्ल होकर राजा श्रेणिक आनन्द भेरी बजाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्री वीर जिनेन्द्र का पूजा और वन्दना को चले। उस समय एक मेंडक भी जो कि नागदत्त श्रेष्ठी की बावडी मे रहता था, और जिस को अपने पूर्वजन्म की स्त्री भवदत्ता को देखकर जाति स्मरण होगया था, श्री जिनेन्द्र देव की पूजा के लिये मुख में एक कमल की पांखुडी दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगर के लोगों के साथ समवसरण की ओर चल दिया। मार्ग में महाराजा श्रेणिक के हाथी के पैर के तले आकर वह मेंडक मरगया। और पूजन के इस संकल्प तथा उद्यम के प्रभाव से मर कर सौ धर्म स्वर्ग मे महा ऋद्धि का धारक देव हुआ। फिर यह देव समवसरण में आया, और श्री गणधर देव के द्वारा उसका चारित्र लोगों को मालूम हुआ। इससे प्रगट है कि समवसरणादि में जाकर तिर्यञ्च भी पूजन करते हैं और उसके उत्तम फल को प्राप्त करते हैं। समवसरण को छोड़ कर और भी बहुत से स्थानों पर तिर्यञ्चों ने पूजन की है। पुण्यास्रव और आराधनाकथा कोष में इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं।

इससे अपने २ पदयोग्यता और पात्रता के अनुसार प्रायः सभी जीव श्रीमज्जिनेन्द्र की भक्ति, स्तुति और पूजन के अधिकारी हैं।

कहा भी है—

"सिंहवानर, सर्प सूकर, नवल, अज सब तुमने तारे हैं।
उच्च और नीच नहीं देखा, सरण आये उभारे हैं॥"

भगवान् जिनेन्द्र अखिल जीवों के हितकारक हैं और उनकी पूजन भक्ति आदि के द्वारा संसारी जीव मात्र आत्म-कल्याण करने के अधिकारी हैं फिर शूद्र कैसे पृथक् रह सकते हैं। नीच और उच्चपनातो कर्म कृत है और जिनेन्द्र का स्मरण कर्मों का दग्ध करने वाला है। अतः सब ही उनकी भक्ति पूजन आदि के अधिकारी हैं। यह बात ऊपर के कथन से स्पष्ट हो चुकी है।

अब छ आवश्यकों में प्रथम देव पूजा" नामक आवश्यक के क्रम प्राप्त देव स्वरूप तथा उसकी पूजा एवं पूजा योग्य द्रव्य बतलाकर सम्प्रति पूजन खड़े होकर कौन दिशा में करनी चाहिये इसका सप्रमाण निर्णय करते हैं।

पूजा खडे होकर अथवा बैठे रहकर की जाय

श्रीजिनेन्द्र का मत सापेक्ष एवं स्याद्वादरूप है अतः शक्ति को न छिपाकर कार्य करना समुचित है। कहाभी है—

"जं सक्कई तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ १ ॥

तात्पर्य—यदि शक्ति होवे तो अवश्य खड़े होकर ही पूजन करना समुचित है। अन्यथा अर्थात् शक्तिके न होने पर बीमारी आदि दशामें दूसरी बात है। स्तुत्यकी स्तुति एव पूजा खड़े रहने पर ही विनय तथा श्रद्धाभाव की जनक हो सकती है। इस भाव की पुष्टिमें आदि पुराण मे भीकहा है—

"उत्थाय तुष्टया सुरेन्द्राः स्वहस्तैः
जिनस्याङ्घ्रिपूजां प्रचक्रुः प्रतीताः" [पृ. ५६१]

अर्थ—सम्यग्दृष्टि सुरेन्द्रों ने अत्यन्त प्रमोद पूर्वक खड़े होकर अपने हाथों से भगवान् के चरणकमलों की पूजा की।

यहां पर "उत्थाय" शब्द दिया गया है जिस का अर्थ "उठकर" है। अतः भगवान् की पूजा खड़े होकर ही करनी चाहिये यह सिद्ध होता है।

संयमी मुनि, तीर्थङ्करों की स्तुति निम्न प्रकार से खड़े होकर ही करता है। इसकी पुष्टि में गाथा लिखते हैं—

"चउरंगुलतरपादो पडिलेहिय अंजुली कपुयसत्थो।
अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदि य च उवीसत्थयं भिक्खू ॥७६॥ [मूलाचार अध्याय ७]

अर्थ—संयमी मुनि चार अंगुल प्रमाण चरणों का अन्तर रखता हुआ, शरीर, भूमि, और चित्त को पवित्र करके अञ्जलि करने के लिये सौम्यभाव युक्त होकर, सर्व प्रकार के व्यापार का परित्याग करके तीर्थङ्करो की स्तुति करे।

इसका अर्थ जयपुर निवासी पं० जयचन्द्र जी ने जो लिखा है वह ज्यों का त्यों उद्धृत किया जाता है।

"कैसे करे खड़े होये विना दोनों पांवों के अन्तर चार अंगुल का कैसे बने. या वचनते महामुनियों को भी खड़े होकर ही स्तुति विनती स्तोत्र पढनो कयो तब गृहस्थ के तो बहुत नीचो भावना हुआ करे है फिर वह बैठ कर कैसे जिनेन्द्र भगवान का पूजन स्तवन स्तोत्र करे. इस गाथा से बैठकर पूजन करने का निषेध ही होवे है।

आगे और भी प्रमाण देते हैं—

"तुम प्रभु सब देवों के देव, जग के जीव करें सब सेव।
मेरे हित होने के काज, मै तुम चरण रखो सिरताज ॥
तुम सेवा तें पीडा टरै, गण धर देव सदा उच्चरे।
मैं स्तवों तुम सम्मुखठाड़, यातें पुण्य महा अतिबाड़ ॥
ठाडे ठाड़े पूजन करें, यातें पाप सकल परिहरें।

[हजारीलाल सिंघई कृत पूजन स्तवन]

इस प्रकार उल्लिखित चौपाइयों से भी यह ही प्रकट होता है कि भगवान के सम्मुख खड़े होकर ही गृहस्थ हो, या मुनी हो, पूजन स्तवन स्तोत्र स्तुति प्रार्थना जो भी कुछ करना हो सो कर सकते हैं। उल्टे करने से या बैठ कर करने से भगवान् की प्रतिमा का अविनय होता है। इसही लिये आचार्यों ने तथा सामान्य गृहस्थों ने भी ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। कारण कि संसार मे भगवान् सर्वोपरि है अतः उनका उनके योग्य आदर नहीं किया जावेगा तो किसका उत्कृष्ट आदर सत्कार किया जावेगा ? अतः खडे होकर ही भगवान के सम्मुख पूजन करना चाहिये।

स्तुति पूजन में भेद नहीं हैं—

स्तुति और पूजन में शब्द में भेद है अर्थ में भेद नहीं है। यह निम्न गाथा द्वारा स्पष्ट करते हैं—

"उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणु कित्तिं च।
काउण अच्चिदूणयति सुद्ध पणमोथ ओयो ओ ॥ २४ ॥

अर्थ—ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों के नाम निरुक्ति के अनुसार असाधारण गुणों का प्रकट करना, तथा मन वचन और काय योग की शुद्धता पूर्वक चरण युगलों की पूजन प्रणाम आदि करना चतुर्विंशति स्तवन कहलाता है।

भावार्थ—पूजन और स्तवन में शाब्दिक भेद प्रतीत होता है, आर्थिक भेद नहीं है। पूजन तथा स्तवन करने के लिये भक्ति शक्ति एवं विनय की आवश्यकता है, बिना खड़े हुए उल्लिखित प्रशस्त भक्ति आदि नहीं बन सकती, अतः भगवान् का पूजन आदि सामने खड़े होकर ही करना चाहिये।

किस दिशा की ओर मुखकर पूजन करे इसका उत्तर।

आगे भगवान् का पूजन सामने खड़े होकर ही करना चाहिये इसके प्रमाण मे गाथा देते हैं—

"तेसिं अहि मुहदाए अत्था सिज्झंति तहय भत्तीए।
तो भत्तिरागपुव्वं वुच्चइ एदं णाहु णिदाणं ॥ ७५ ॥ [मूलाचार अ. ७]

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान सम्मुख भक्ति एवं राग पूर्वक भगवान् का गुण स्मरण करते हैं, उन जीवों को वाञ्छित फल की सिद्धि के साथ आत्म स्वभाव की भी सिद्धि होती है। यहां पर (भक्ति राग पूर्वक) शब्द से संसार के हेतु रूप निदान का अभाव प्ररूपित किया गया है। इस गाथा से भगवान् के सम्मुख खडे होकर पूजन करना सिद्ध होता है।

और भी कहा है—

"आरहिदूणं ते सुं गणहरदेवादिवारसगणाते।
कादूणं वि प्पदाहि णमच्चंति संमुहं णाहं ॥ ८७२ ॥ [तिलोयपण्णत्ति अध्या० ४]

अर्थ—वे गणधर देवादिक बारह गण पीठों पर चढ़कर और प्रदक्षिणा देकर जिनेन्द्र देव के संमुख होते हुए पूजा करते हैं।

प्रश्न—आज कल बहुत से लोग भगवान् का मुख पूर्व दिशा में होवे तो पूजने वाले का उत्तर में तथा भगवान् का मुख उत्तर में होवे तो पूजन करने वाले का मुख पूर्व दिशा में होना चाहिये, ऐसा विधान क्यों करते हैं ?

समाधान—इस पंचम काल में यथार्थ तत्व के ज्ञाता विरले ही रह गये हैं और इस समय भट्टारक प्रणीत नवीन २ मार्ग निकले हुए हैं। भट्टारक लोग सांसारिक कार्यों के साधनार्थ व्यन्तरादिक की सिद्धियों में लगकर जनता को चमत्कार जादू तंत्र मंत्रादि बतलाने लगे एवं व्यन्तरादि की सिद्धि उनको वाम खड़े होकर दिखाई पड़ी तो अत्यन्त शक्तिशाली भगवान् की आराधना भी वाम खड़े होकर करने का विध न लिख दिया और अपनी बात साधने के लिये बड़े २ आचार्यों के नाम से नवीन २ ग्रन्थ निर्माण करके तथा नये बड़े २ ग्रन्थों में श्लोक बना २ कर रखदिये तथा प्रणाली बदलदी, भोला जनता की वंचना कर डाली एवं उसे ठगलिया।

भगवान् की अनन्त शक्ति है एवं उनका पूजन चारों दिशाओं में हो सकता है—इस बात को तीन गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं—

"दिव्वफल पुष्फहत्था सत्था भरणा स चामराणीया।
बहुधयतूरंरावा गंता कुव्वंति कल्लाणं ॥ ९७५ ॥
पडिवरसं आसाढे तहकत्तिय फग्गुणे य अट्ठमिदो।
पुण्णा दिणोत्ति य णिक्कं दोद्दो पहरं तुसः सुरेहिं ॥ ९७६ ॥
सोहम्मो ईसाणो चमरो वइरोयणो पदक्खिणदो।
पुव्वपरदक्खिणुत्तरदिसासु कुव्वंति कल्लाणं ॥ ९७७ ॥ [त्रिलोकसार]

अर्थ—दिव्य फल और पुष्पों को हाथ में लेकर प्रशस्त आभरण धारी चामर हाथ में लिये हुए सेना सहित बहुत सी ध्वजा युक्त वादित्रों के शब्दों के साथ नंदीश्वर द्वीप में जाकर और पूजन करते हैं वे सर्वदा आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुण शुक्ला अष्टमी के दिन से पूर्णिमा तक प्रति वर्ष दिन के दो प्रहर पर्यन्त अपने २ देवों सहित करते हैं। सौधर्म-ईशान-चमर और वैरोचन चारों प्रदक्षिणा रूप पूर्व—पश्चिम—दक्षिण और उत्तर चारों दिशाओं में करते हैं—

पुण्याश्रव कथा कोष में भी भगवान के संमुख पूजन करने का विधान मिलता है—

"तदा गोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः ।
भो सर्वोत्कृष्ट मे पद्मं गृहाणेदमिति स्फुटम् ॥ १५ ॥ [पुण्याश्रव०]

अर्थ—सहस्रकूट चैत्यालय में जिस समय श्री गुप्तिनामा मुनिराज और राजा तथा सेठ बैठे हुए थे उसी समय श्री जिनेन्द्र भगवान् के सम्मुख एक बड़ा कमल उस ग्वालिये ने चढाया, उस पूजन के प्रभाव से वह ग्वालिया अग्रिम पर्याय में महाप्रतापी राजा करकंडु हुआ । आगे और भी कहते हैं—

"स चाद्य पीठमारुह्य त्रिःपरीत्य कृताञ्जलिः ।
पूजाद्रव्यमुपानीय भक्त्या स्तौत्यभिमुखम् ॥ ३३ ॥ [धर्मसंग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—राजा श्रेणिक आद्य पीठ पर चढ़कर और जिनेन्द्र भगवान की तीन प्रदक्षिणा देकर पूजन सम्बन्धी द्रव्यों को चढ़ाकर भक्ति पूर्वक भगवान के सामने स्तुति करने लगा । यहां पर जो "अभिमुखम्" पाठ लिखा गया है, वह १७२३ संवत् की लिखी हुई प्रति से लिखा गया है । मुद्रित प्रति में "सन्मतिम्" ऐसा पाठ है ।

आगे और भी प्रमाण देते हैं—

"मानस्तंभे चतुर्दिक्षु प्रतिमाः प्रतिमा श्रिया ।
नुत्वा नत्वा पयो मुख्यैर्द्रव्यैरभ्यचर्यन्मुदा ॥ २४ ॥ [आदिनाथ पुराण ३ पर्व]

अर्थ—राजा श्रेणिक ने चारों दिशाओं में मानस्तंभ की प्रतिमाओं को भक्ति पूर्वक नमस्कार करके एवं स्तुति करके जलादि द्रव्यों से सहर्ष पूजन किया ।

यह कथन भी संमुखता को प्रकट करता है अतः भगवान् की पूजन संमुख खड़े होकर ही करना चाहिये ।

पुण्यास्रव कथाकोष में वर्णित एक कथा से भी यही सिद्ध होता है ।

"एक माली के कुसुमवती और पुष्पवती नाम की दो कन्यायें थीं । वे प्रति दिन एक पुष्प भगवान के संमुख देहली पर चढ़ाया

करती थीं। एक दिन पुष्प लाते समय सर्प ने वन में उन्हें काट लिया। वे दोनों कन्यायें मर कर इस पूजन के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र के इन्द्राणी हुई और पचपन पल्य की आयु प्राप्त की।

आगे अभिमुख (संमुख) की पुष्टि में और भी प्रमाण देते हैं—

"अभिवन्दे अभिमुखीभूयस्तुवे" [चैत्यभक्ति पृष्ट २८१ श्लो० १३]

टीका—"सदाभिमुखमेव यज्जगति पश्यताः सर्वतः" [चैत्यभक्ति पृष्ट २६१ श्लो० ३४]

(हितार्थेत्यादि। यद्रूपम् अभिमुखं समन्ताद्वावीक्ष्य विलोक्य) इस ही टीका में—"सदा अभिमुखमेव यज्जगति पश्यतां सवतः"–सदा–सर्वदा अभिमुख मेव सम्मुखमेव। कथं ? सर्वतः सर्वासु दिक्षु यद्रूपं दृश्यते।

इस प्रकार पूजन, स्तुति व स्तवन, आराधना भगवान जिनेन्द्र के संमुख ही होती है।

पूजनीय देव कैसा हो इस का विवेचन

आगे दो श्लोंका द्वारा कैसा देवता पूजनीय होता है। इसका दिग्दर्शन कराते हैं—

"क्षुधादिदोषनिर्मुक्तः सर्वातिशयभासुरः।
प्राप्तानन्तचतुष्कोऽसौ कोट्यादित्यसदृक् प्रभाः ॥ ६५ ॥
प्रातिहार्याष्टभूती शस्त्रिर्साध्यं चषादान्के।
प्रमुपष्णादिका यावत् सूत्रार्थं ध्वनिना वदेत् ॥ ६६ ॥ [धर्म संग्रह श्रावकाचार द्वि० अ०]

अर्थ—जिसमें क्षुधा, तृषा, आदि अष्टादश दोष न हों, चौतीस अतिशयों से युक्त हो, अनन्त चतुष्टय का स्वामी हो, अष्ट प्रातिहार्य से युक्त तथा चामरादि से भूषित हो और संमवसरण लक्ष्मी से, अलङ्कृत हो, जिसके शरीर की कान्ति एक करोड़ सूर्य की दीप्ति के समान देदीप्यमान हो और भव्य जीवों के हितार्थ जिसकी दिव्य ध्वनि मेघ की ध्वनि के समान गंभीर त्रिकाल खिरती हो—ऐसा सर्वज्ञ अरहन्त देव नित्य प्रति पूजन के योग्य है।

आगे और भी कहते हैं—

"जगच्छ्रेष्ठो जगन्नाथो जगच्छ्रेष्ठैः प्रपूजितः ।
"बृहन्नामाजितानंगश्चर्चेतं सलिलादिभिः ॥ १ ॥"

अर्थ—जगत् में श्रेष्ठ जगन्नाथ—संसार के स्वामी, जगत् में श्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि से जो पूज्य हैं तथा जिन्होंने कामदेव की विजय करली है उन भगवान् को मै जल आदिक से पूजता हूँ। इसमें जिनेन्द्र भगवान् की पूजन बतलाई है।

देव पूजा मुक्ति का कारण है

आगे जिनेन्द्र देव का पूजन परम्परा से परमनिवृत्ति मोक्ष का कारण है, इसको निम्न प्रकारण द्वारा बतलाते हैं—

"पूयाफलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो"

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध हृदय होकर भगवान् की पूजन करता है, वह तीन लोक मे देवादिक से पूजनीय तीर्थङ्कर होता है। यह पूजा का फल बतलाया है। तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्र देव के पूजन के फल से ही श्रावक स्वर्ग लोक में जाकर सागरों पर्यन्त सुख भोगकर मनुष्य पर्याय धारण करके, मुनिपद धारण करके मोक्ष के अविनाशी परम सौख्य को प्राप्त कर सकता है।

आगे जिनेन्द्र देव के पूजन के लिये उपदेश देते हुए आचार्य जिनेन्द्र के पूजन से गार्हस्थ्य सफलता को प्रदर्शित करते हुए पद्य लिखते है—

पूजा करना आवश्यक है:—

"ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥ [पद्मनन्दी पंचविंश०]

अर्थ—जो पुरुष भगवान् का दर्शन एवं पूजन नहीं करते हैं, उनका जीवन निष्फल है, तथा उनके गृहस्थाश्रम को भी धिक्कार है ऐसे मनुष्य जन्म पाने से क्या लाभ है। और भी कहा है—

"पूजां विना न कुर्यात् भोगसौख्यादिकं कदा" [सुभाषितावली]

अर्थ—गृहस्थ को चाहिये श्री जिनेन्द्र के पूजन के विना भोग तथा उपभोग की सामग्री न भोगे।

तात्पर्य—पूर्व कृत पुण्योदय से मनुष्य पर्याय प्राप्त की तथा भोग और उपभोग की सामग्री प्राप्त की है। अतः जो आगे के लिये पुण्य का साधनभूत परम देव का दर्शन तथा पूजन नहीं करते हैं उनके गार्हस्थ्य जीवन को धिक्कार है, क्योंकि बुद्धिमान् गृहस्थ को उचित है कि आगे द्रव्योपार्जन करते हुए सचित द्रव्य का व्यय करे। जो पुरुष आगे के लिए द्रव्य का संचय एवं उपार्जन के विना सचित द्रव्य का व्यय करदेता है वह बड़ी भारी भूल तथा मूर्खता करता है। उसी प्रकार जो मानव आगे के लिये श्री जिनेन्द्र देव के दर्शन और पूजन द्वारा पुण्य का उपार्जन न करके पूर्व संचित पुण्य को व्यय करता है प्रत्युतः गार्हस्थ्य सम्बन्धी पापों का ही संचय करता रहता है उसको धिक्कार है। जो सद्गृहस्थ बनना चाहते हैं उनको चाहिये कि जिनेन्द्र भगवान की पूजाकर अवश्य पुण्योपार्जन करे।

पूजा का माहात्म्य

"मानिनो मानिनिर्मुक्ता मोहिनो मोहवर्जिताः।
रोगिणो निरुजो जाता वैरिणो मित्रतां श्रिताः॥ ४३॥
चक्षुष्मन्तोऽभवन्नंधा बधिराः श्रुतिधारिणः।
मूकाः पटुत्वमापन्नाः पंगवः शीघ्रगामिनः॥ ४४॥
निर्धनाः सधना लोके जड़ा पाण्डित्यमाश्रिताः।
इत्यन्येऽपि च सम्पन्ना मानस्तंभादिदर्शनात्॥ ४५॥" [धर्म संग्रह]

अर्थ—भगवान् के समोसरण के मानस्तंभ के दर्शन मात्रसे ही अभिमानियों के मान दूर हो गये, और जो मोह में फंसे थे उनका मोह दूर हो गया, वैरी मित्र बन गये, अन्धों को दिखाई देने लगा, बधिर पुरुषों को शब्द सुनाई पड़ने लगा, जो गूंगे थे वे भी बोलने लगे, जो पंगु थे वे भी शीघ्रगामी होगये अर्थात् पांवों से चलने लगे, निर्धन धनवान होगये और मूर्ख भी पण्डित हो गये।

तात्पर्य यह है कि भगवान् के समोसरण के मानस्तंभ के दर्शन मात्र से जब असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं और पुण्यलाभ

होता है तो भगवान् के दर्शन करने से तथा पूजन करने से कितना पुण्यास्रव तथा पापबंध नाश होगा, स्वयं विचार लेना चाहिये।

अब क्रम प्राप्त पूज्यदेव को बता कर पूजा के भेदों को उद्देश्य रूप से दर्शाते हैं।

पूजा के भेद और उनका स्वरूप

"नित्या चतुर्मुखाख्या च कल्पद्रुमाभिधानका।
नैमित्याष्टाह्निकी पूजा दिव्यध्वजेतिषड्धा ॥ १ ॥"

अर्थ—नित्य, चतुर्मुख, कल्पद्रुम, नैमित्तिका, अष्टाह्निका, और इन्द्रध्वज इस पूजाभेद के ६ प्रकार हैं।

अब उल्लिखित पूजाओं का क्रमशः लक्षण बतलाते हैं—

"नृपैर्मुकुटबद्धाद्यैः सन्मण्डपे चतुर्मुखे।
विधीयते महापूजा सस्याच्चतुर्मुखोमहः ॥ १ ॥
कल्पद्रुमैरिवाशेषजगदाशा प्रपूर्यते।
चक्रिभिर्यत्र पूजायां सस्यात्कल्पद्रुमाभिधा ॥ २ ॥
नन्दीश्वरेषु देवेन्द्रैर्द्वीपे नन्दीश्वरे महः।
दिनाष्टकं विधीयेत सा पूजाष्टाह्निकी मता ॥ ३ ॥
अकृत्रिमेषु चैत्येषु कल्याणेषु च पंचसु।
सुरैर्विनिर्मिता पूजा भवेत्सेन्द्रध्वजात्मिका ॥ ४ ॥
महोत्सवमिति प्रीत्या प्रपंचयन्ति पंचधा।
स स्यान्मुक्ति वधूनेत्र प्रेमपात्रं प्रमानिह ॥ ५ ॥

स्वगेहे चैत्यगेहे वा जिनेन्द्रस्य महामहः ।
निर्माप्यते यथाम्नायं नित्यपूजा भवत्यसौ ॥ ६ ॥

अर्थ—जो महायज्ञ बड़े २ मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा अच्छे मण्डप में किया जावे वह चतुर्मुख नाम का यज्ञ (पूजन) कहलाता है।

जिस पूजा में कल्पवृक्षों के समान चक्रवर्तियों द्वारा संसार की आशा पूरित की जावे अर्थात् याचकों को इच्छानुसार दान दिया जावे उसको कल्पद्रुम नाम की पूजा कहते हैं। यहां पर चक्रवर्तियों द्वारा यह बहुवचन आदर मात्र में है अथवा भिन्न २ समय में भिन्न २ चक्रवर्ति द्वारा—इस आशय का द्योतक है, यह पूजन एक ही चक्री द्वारा किया जाता है। क्योंकि एक समय में दो चक्रवर्ति एक स्थान में नहीं मिल सकते।

जो पूजन नन्दीश्वर द्वीप में देवताओं द्वारा अष्टदिन पर्यन्त किया जाता है उसको अष्टाह्निक पूजन कहते हैं। यह पूजन एक वर्ष में तीन बार किया जाता है।

यह कार्तिक सुदि ८ से १५ पूर्णिमा तक, फाल्गुण सुदि ८ से १५ पूर्णिमा तक और आषाढ़ सुदि ८ से पूर्णिमा तक किया जाता है।

अकृत्रिम चैत्यबिम्बों की जो पंच कल्याणकों में देवताओं के साथ इन्द्रों के द्वारा पूजन की जाती है उसको इन्द्रध्वज नामक पूजन कहते हैं। यह पूजन मनुष्यों की सामर्थ्य से बाहर है। इन्द्रों की सामर्थ्य से सम्पन्न होने के कारण इस पूजन को इन्द्रध्वज कहते हैं।

जो प्रथमवसर बिम्बप्रतिष्ठा आदि महोत्सव के समय पंचकल्याणक आदि की पूजन की जाती है उसको नैमित्तिक पूजन कहते हैं।

जो अपने घर चैत्यालय अथवा मन्दिर में जाकर प्रतिदिन भक्तिपूर्वक अष्टद्रव्यों द्वारा जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की जाती है उसका नाम नित्यमह है। क्योंकि मह नाम पूजन का है और जो नित्य पूजन किया जावे उस का नाम नित्यमह है।

नित्यमह पूजा के पांच उपचार

आचार्यों ने नित्यमह के पांच उपचार बताये हैं। तथा पंचोपचारी नाम से कहा है। पांचों उपचारों का निर्देश निम्न प्रकार है। (१) आह्वानन (२) संस्थापन (३) सन्निधिकरण (४) पूजन (५) और विसर्जन यहां पर पूजन का विषय है। अभिषेक पूजन से पूर्व की उपचर्या है। अतः उसका नाम नहीं दिया है।

उल्लिखित उपचार पंचक प्रतिमा के आश्रय हैं। और प्रतिमा की पूजा, स्थापना के आश्रय है। अतः क्रम प्राप्त स्थापना का स्वरूप बतलाते हैं। कैसी स्थापना में उपचारों का अस्तित्व भी किस प्रकार का रहेगा इसका भी सप्रमाण निर्णय करते हैं—

स्थापना का स्वरूप और भेद

"साकारादि निराकारा स्थापना च द्विधा मता।
अर्हतादिनिराकारा साकारा प्रतिमादिषु ॥ ८० ॥
आह्वानं प्रतिष्ठानं सन्निधिकरणं तथा।
पूजा विसर्जनं चेति निराकारा भवेदियं ॥ ८१ ॥
साकारे जिनबिम्बः स्यादेक एवोपचारकः।
स चाष्टविधिरेनोक्तः जलगन्धाक्षतादिभिः ॥ ८२ ॥

अर्थ—स्थापना दो प्रकार की होती है। एक साकार और दूसरी निराकार। जिस पदार्थ की स्थापना की जावे यदि उसी प्रकार की आकृति रखकर स्थापना की जावे तो उसे साकार अथवा तदाकार स्थापना कहते हैं। जिस प्रकार धातु पाषाण आदि अर्हन्त आदिका आकार बनाकर उनको अर्हन्त आदि कहना। और दूसरी निराकार अथवा अतदाकार स्थापना है। उसमें जिस पदार्थ की स्थापना करते हैं वैसा आकार न बनाकर भी उस पदार्थ के नाम से कहते हैं। जिस प्रकार सतरंज में गुटिकाओं का हाथी, घोड़े और पयादे का आकार नहीं बना कर भी उन गुटिकाओं को हाथी घोड़े एवं पयादे के नाम से पुकारते हैं।

प्रतिमा के अन्दर अर्हन्त की आकृति पाई जाती है अतः साकार स्थापना है और आह्वान में आह्वनीय को, प्रतिष्ठापन में प्रतिष्ठापनीय की, सन्निधिकरण में सन्निधिकरणीय की, पूजन में पूजनीय की, और विसर्जन में विसर्जनीय अरहन्त की आकृति नहीं पाई जाती है। अतः ये पांचों उपचार निराकार स्थापना के हैं।

साकार स्थापना में एक जिन बिम्ब मात्र ही उपचार है वह जल, गन्ध और अक्षत आदि आठ द्रव्यों से पूजी जाती है।

अब अन्य ग्रन्थों की सहायता से नित्यमह पूजा का वर्णन करते हैं—

नित्यमह पूजा का विशेष-स्वरूप

जो पूजन के प्रारंभ में सामने एक ठोना रख कर पुष्प चढ़ा कर हे भगवान् ? आप यहां आइये, ऐसी प्रार्थना की जाती है, उसका नाम आह्वानन या आह्वान है । क्योंकि आह्वान नाम बुलाने का है । यहां भगवान् को बुलाया जाता है, इस कारण इसका ,नाम आह्वान है ।

जब भगवान् के आह्वान के बाद ठोने पर हे भगवन् ? आप यहां पधारिये । यह बोलकर पुष्प चढ़ाते हैं । उसका नाम सन्निधिकरण है । सन्निधिकरण शब्द का अर्थ अपने समीप में करने का है । भावानुसार भगवान् को अपने समीप में ठोने पर बैठाया जाता है एवं समीपवर्ती किया जाता है, उसको इस कारण सन्निधिकरण कहते हैं । वास्तव में जो ऊपर स्थापना आह्वानादिक बतलाये हैं वे सत्कारवाची शब्दोंका प्रयोग है न कि यथार्थ स्थापना का, क्योंकि यथार्थ स्थापना तो साक्षात् प्रतिमा के सामने विराजमान है ही ।

जो भगवान् की आठ प्रकार के द्रव्यों से पूजन करते हैं उस का नाम पूजन है । पूजन में द्रव्य भगवान के चिन्तवन में चढ़ाये जाते हैं जैसे—

"सद्वारिगन्धाक्षतपुष्पजातैः ।
नैवेद्यदीपामलधूपधूम्रैः ॥
फलैर्विचित्रैः घनपुण्ययोग्यान् ।
जिनेन्द्रसिद्धान्तयतीन् यजेऽहम् ॥"

अर्थ—मैं स्वच्छ जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, और फलों द्वारा अर्हन्त, शास्त्र और गुरुओं की पूजन करता हूँ ।

पूजन के पश्चात् पूजक श्रावक के ऐसे भाव निक्षेप से भाव रहते हैं कि साक्षात् भगवान् यहां पर विराज रहे हैं, और मैं उनको पूजन करने के बाद बिना विसर्जन किये चला जाऊंगा तो भी समुचित न होगा, प्रत्युतः अविनयका कारण होगा । अतः आह्वान किये हुए जिन देव के प्रति प्रार्थना करता है कि मैंने जो अपनी भक्ति और शक्ति के अनुकूल जिनर पंच परमेष्ठी देवताओं की आह्वान, स्थापन और सन्निधिकरण पूर्वक पूजन करली है वे मेरी पूजा और सत्कृति को स्वीकार करके पधारें । इसको कह कर जो शान्ति पाठ के पश्चात् पुष्प चढ़ाये जाते हैं उस का नाम विसर्जन है । यह विसर्जन सब के अन्त में होता है । इस प्रकार ग्रन्थान्तरों के सार को लेकर पंचोपचारी नित्य पूजन जो कि प्रतिदिन गृहस्थ से की जाती है, का संक्षेप से स्वरूप आदि बतलाकर वर्णन किया ।

प्रतिमा का स्वरूप और केशर का चर्चना

प्रश्न---भगवान् की प्रतिमा का स्वरूप कैसा होना चाहिये ? प्रतिमा के चरणों पर केशर भी चढ़ानी चाहिये या नहीं ?

उत्तर---दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रतिमा का स्वरूप वेष भूषा रहित ही बतलाया है। पंचमहाव्रतों में सर्व प्रधान अहिंसा महाव्रत है। शेष व्रत उसकी रक्षा मात्र के लिये हैं। अहिंसा महाव्रत के पालन करने वाले के अणुमात्र भी आरंभ का विधान नहीं है। अतः प्रतिमा पर पुष्प और केशर का विधान किस प्रकार हो सकता है ? वीतराग की प्रतिमा पर पुष्प और केशर चढ़ाकर पूजना सरागी को पूजना है। सो यह इष्ट नहीं है। इसको बृहत्स्वयंभूस्तोत्र की नेमिनाथ स्वामी की स्तुति में जो समन्त भद्रस्वामी ने प्रमाण दिया है उसे देखिए—

"अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥
ततस्तत् सिद्ध्यर्थं परमकरुणोग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ११९ ॥
वपुर्भूषावेषाव्यवधिरहितं शान्तिकरणं।
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातङ्कविजयं ॥
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ॥ १२० ॥ [स्वयंभू स्तोत्र]

अर्थ—हे प्रभो ! भगवान नेमिनाथ ! आपने परमात्मा स्वरूप पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हुए प्राणियों का अहिंसन रूप महाव्रत धारण किया। अहिंसा महाव्रत वहां पर ही बनता है जहां पर आरम्भ का अत्यन्त त्याग अर्थात् अणुमात्र भी आरम्भ न पाया जावे। इस कारण आपने उसकी सिद्धि के लिये परम करुणा के धारी बनकर अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार के परिग्रहों का सर्वथा परित्याग कर-दिया। इस ही कारण परम वीतराग आप की मुद्रा में जटा जूट, मुकुट, भूषण, वस्त्र, लेपन, और वेष आदिका लेश-मात्र भी नहीं पाया जाता है।

हे प्रभो ! आप का शरीर भूषा और वेषके व्यवधान से रहित शान्ति को देने वाला काम देव के विषैले बाणों के आतङ्क

(पीड़ा) पर विजय करने वाला, विना भयङ्कर शस्त्रों द्वारा हृदय कोप से रहित होकर भी विजय करने वाला है। आप सर्वथा मोहसे रहित, शान्ति के मन्दिर हमारे शरणभूत हो, अर्थात् मुझको आप के अतिरिक्त किसी का सहारा नहीं है।

और भी आगे कहते हैं:—

अकलङ्क स्वामी की कथा से भी यह रहस्य अत्यन्त स्पष्ट है। दिग्म्बर जैन सदा से निष्परिग्रह प्रतिमा को पूजते रहे हैं, जिसके ऊपर अणुमात्र भी परिग्रह पाया गया है उस प्रतिमा को दिगम्बरों ने सर्वथा अपूज्य ही माना है। जब अकलङ्क देव बौद्धों के यहां गुप्त रूप से अध्ययन करते थे तो उन पर जैनत्व का किसी कारण विशेष संदेह हो गया, तब उनसे जैन प्रतिमा मंगवाकर लंघन करवाई गई थी। उस समय अकलंक देव एक धागे मात्र से उसे परिग्रहीत करके निःसंकोच भाव से लांघ गये थे। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर सम्प्रदायानुसार अणुमात्र परिग्रह से युक्त भगवान की प्रतिमा पूज्य नहीं है। तथा परम वीतराग प्रतिमा पर केशर और पुष्प चढ़ाना सर्वथा वर्जित है। कहाभी है—

"जिन प्रतिमा जिन सारखी, कही जिनागममांहि।
रंचमात्रदूषण लगे, वंदनीय सो नांहि॥

अर्थ—भगवान् अरहन्त के समान ही भगवान् की प्रतिमा होती है। यदि उसमें रंच मात्र भी केशर लगादी जावे तो उस प्रतिमा में दूषण लग जाता है। और वह फिर पूजनीय नहीं रहती।

प्रश्न—आप जो चन्दन और केशर का निषेध कर रहे हैं, यह आप का कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भाव संग्रह में एक गाथा आई है कि—

"चंदण सु अंध लेओ जिणवर चरणेसु जो कुणई भविई।
लहइ तणू विकिरियं सहावसुयं धयं अमलं॥ ४७१ ॥ [भाव संग्रह]

अर्थ—जो पुरुष केशरादि विलेपन रहित चरण कमल युगलों वाली जिन प्रतिमा का दर्शन करते हैं वे पुरुष मूर्ख और ज्ञान से हीन हैं।

भावार्थ—जिस प्रतिमा के चरण युगल चन्दन से चर्चित न हों उस प्रतिमा के दर्शन नहीं करने चाहिये (वसुनन्दी सं०)

इस ही प्रकार अन्यत्र भी चन्दन और केशर द्वारा प्रतिमा लेपन का विधान देखा गया है। फिर आपने इस विधान का क्यों निषेध किया ?

उत्तर—आपकी बुद्धि में भ्रम है। यत्र तत्र जो "अनर्चित पदद्वन्द्व" यहां के पाठ के समान पाठ में "अनर्चित" शब्द देखा गया है, उसका तात्पर्य अपूजता से है। तथा यत्र तत्र जो "अर्चित" शब्द देखा जाता है उसका अर्थ पूज्य प्रतिमा से है। प्रतिमा की जब तक विधि के साथ स्थापना नहीं होती तब तक पूज्यपना नहीं आता। अतः विधान सहित बिम्ब का पूज्य भाव दर्शाया गया है। भगवान समवसरण में भी चार अंगुल अधर सिंहासन पर विराजमान रहते हैं। फिर उनको चन्दनादि विलेपन द्वारा विलेपित करना कहां तक युक्ति-संगत हो सकता है। संसारी प्राणियों का लक्ष्य एवं उद्देश्य आदर्श जिनेन्द्र वीतरागी के प्रतिबिम्ब को सामने रखकर स्वयं भी राग द्वेष रहित होकर आत्म-शुद्धि का है। वह आत्म-शुद्धि चन्दनादि परिग्रह भूषित प्रतिबिम्ब द्वारा किस प्रकार सिद्ध हो सकती है। जब हम चन्दनादि चर्चित प्रतिबिम्ब को आदर्श रखेंगे तो तदनुकूल हमको एवं तत्स्वरूपानुयायी अनगार मुनि को भी शरीर पर केशरादि परिग्रह रखना बन सकता है ? और जब परिग्रह से ही मुक्ति होने लग गई तो क्या बात रहगई। मुनि होने की आवश्यकता ही न बनेगी। भगवान् के पास बाह्य और आभ्यन्तर अणुमात्र भी परिग्रह न था। वेषभूषा आदि से बिल्कुल रहित थे। अतः उनका प्रतिबिम्ब भी तदाकृतिधारी ही होना चाहिये।

प्रतिबिम्ब की पूजन भगवान की प्रतिच्छाया रूप तदाकृतिधारी का ही होना चाहिये। क्योंकि प्रतिबिम्ब का शब्दार्थ ही तदाकृतिधारी का है—अमर कोष मे कहा है—

"प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना।
प्रतिच्छाया प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिः ॥" [अमरकोष]

अर्थ—प्रतिमान–प्रतिबिम्ब–प्रतिमा–प्रतियातना–प्रतिच्छाया और प्रतिकृति तथा प्रतिनिधि ये सब प्रतिमावाची हैं। एवं भगवान की आकृति धारी मूर्ति को कहते हैं।

यदि चन्दना केशर आदि भक्ति भाव से चढ़ाया ही जावे तो भगवान की मूर्ति पर न चढ़ाया जावे, क्योंकि देवताओं ने समोसरण की विभूति की, तथापि भगवान उससे अलग रहे। आप लोग पूजन का द्रव्य चढाते हैं प्रतिमा से अलग ही रहता है। जहां पर कोई

मुनि अथवा तीर्थङ्कर आहार के लिये गये वहां पर उनकी पूजा की गई अथवा गन्धादि वस्तु चढ़ाई गई वह उनके चरण स्पर्श से पूज्य पृथिवी पर चढ़ाई गई। उत्तर पुराण में ५२१ वें पद्य का प्रमाण भी इस में दिया जासकता है। महावीर पुराण में लिखा है कि—

"गन्धादिभिर्विभूष्यैतत्, पादोपान्तमहीतलम् ।
परमान्नं त्रिशुद्ध्याऽस्मै, सोऽदितेष्टार्थं साधनम् ॥ ५२१ ॥

अर्थ—महावीर स्वामी दीक्षालेने के बाद राजा नृप कुमार के घर पारणा के लिये पधारे। उस समय राजा ने भगवान के चरणों के निकट की भूमि गन्धादि द्रव्य से विभूषित मन वचन और काय की शुद्धि पूर्वक इष्ट के साधन भूत परमान्न को दिया।

भगवान् की आकृतिरूप प्रतिमा के वर्णन में केशर आदि विभूषित वर्णन नहीं आया उसका प्रमाण नीचे देते हैं।

द्युतिमण्डलभासुरांगयष्टिः वनेषु त्रिषु भूतये प्रवृत्ता,
वपुसा प्रतिमा जिनोत्तमानां प्रतिमाः प्राञ्जलिरस्मि वन्दमानः ॥ १ ॥
विगनायुधविक्रियाविभूषाः प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणां ।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्या प्रतिमाः कल्मषशान्तयेऽभिवन्दे ॥ २ ॥ [वृहत्सामायिक]

अर्थ—मैं कान्ति की झरी से शोभायमान ,शरीरवाले, तीनों लोक के प्राणियों के हित करने के लिये प्रवृत, शरीर के प्रति-बिम्ब रूप भगवान् की प्रतिमाओं को वन्दना करता हूँ।

जिन मन्दिर में भगवान् की आकृति को धारण करने वाली आयुध की आकृति विकार और विभूषण से रहित, कान्ति से युक्त पापों की शान्ति के लिये मैं उस प्रतिमा को नमस्कार करता हूँ।

उल्लिखित पद्यों में गन्धादिक से अलंकृत मूर्तिका विधान नहीं है, अतः गन्धादि प्रतिमा पर चढ़ाना वर्जनीय है।

मूलाचार के मूलगुणाधिकार में प्रतिमा का स्वरूप बतलाया है उसमें भी "णिब्भूसण" शब्द द्वारा गन्धादि से रहित निर्ग्रन्थ मूर्ति की उपासना की गई है। जैसे—

वत्था जिणवक्केणव, अहवा पत्ताइणा असंवरणं ।
णिब्भूसण णिग्गंथं, अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥ २६ ॥ [मूलाचार मूलगुणाधिकार]

अर्थ—वस्त्र, पटसूत्र रोमवस्त्र, अजिन (चर्म) वस्त्र, वल्कल वस्त्र, पत्रादि वस्त्रों के आवरण से रहित होना ही निर्ग्रन्थ है, और यही सर्वथा परिग्रह रहित "निर्भूषणत्व" भूषण रहित अचेलक व्रत जगत में तरण तारण और पूज्य तथा विश्वसनीय है।

"आहार्येभ्यःस्पृहयति परो यः स्वभावादहृद्यः ।
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः ॥
सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां ।
तत्किं भूषा कुसुमवसनैः किश्चशस्त्रैरुदस्त्रैः ॥ १६ ॥ [एकीभाव]

अर्थ—जो कार्य होता है वह सकारणक होता है, एकीभाव में इसी बात की उत्प्रेक्षा सी की है। कि "जो स्वभाव से ही अहृद्य अर्थात् कुरूप होता है, वह प्रायः भूषणों के लिये इच्छा किया करता है।

भावार्थ—जो स्वभाव से ही सुन्दर होता है, उसको आभूषण धारण करने की आवश्यकता नहीं होती, वह विना आभषणों के भी शोभायमान होता है। और स्वभाव से अमनोज्ञ पुरुष भूषणों से सुशोभित होने पर भी अमनोज्ञ रहता है। इसी प्रकार जिसके वैरी होते हैं एवं जिसे शत्रु से भय होता है उसको शस्त्र ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। किन्तु हे जिनेन्द्र ! आप सर्व अंगों में स्वभाव से सुन्दर और शत्रुओं से अजेय एवं निर्भय हो अतः आप को भूषण वसन और पुष्पों से तथा शस्त्र धारण करने से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् आप वस्त्र भूषण पुष्प और शस्त्रों से रहित हो। अतः प्रतिमा पर कभी गन्ध केशर नहीं लगानी चाहिये।

एकसन्धि भट्टारक ने भी जिन विम्ब पर केशर चढ़ाने के लिये निषेध किया है—

पश्येन्नो जिनबिम्बस्य, चर्चितं कुंकुमादिभिः ।
पादपद्मद्वयं भव्यैः, तद्वन्द्यं नैव धार्मिकैः ॥ [वुद्धिजनबो०]

अर्थ—श्री जिन बिम्ब के जो चरण कमल कुंकुमादि से चर्चित हों, उनका दर्शन नहीं करे क्योंकि वे चरण कमल धार्मिक भव्य प्राणियों से अवन्दनीय हैं। और भी कहा है—

"पादद्वयं जिनेन्द्रस्य चन्दनैस्तु सुचर्चितं।
धार्मिकास्ते न पश्यन्ति महापापनिबन्धकम् ॥ १६ ॥ [स्वबोधरत्नाकर]

अर्थ—जो पूज्य पुरुष भगवान् जिनेन्द्र देव के चरणों पर चन्दन का लेप करते हैं ऐसी प्रतिमा को धार्मिक पुरुष पूजा वन्दना व स्तुति नहीं करते; कारण कि सराग आवरण सहित प्रतिमा पूजने वंदने योग्य नहीं है। इनके पूजने व स्तुति करने से सिद्धान्तों में पाप बन्ध कहा है। और भी कहा है—

"यज्जिनचन्द्रबिम्बस्य चर्चितं कुंकुमादिभिः।
पादपद्मद्वयं भव्यैस्तद्वन्द्यं नैव धार्मिकैः ॥ १२४ ॥ [सिद्धान्तसारप्रदीप अ०६]

अर्थ—जिस जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के चरण कमलों पर चन्दन (आवरण) चर्चित हो ऐसे जिन बिम्ब को भव्य पुरुष वंदन स्तुति दर्शन नहीं करते, कारण कि जैनों में परिग्रह सहित जिन बिम्ब अपूज्य हैं। इस प्रकार की प्रतिमा के पूजन से पाप बन्ध होता है।

और भी कहा है—

"अनर्चितपदद्वन्द्वं कुंकुमादिविलेपनैः।
जिनेन्द्रबिम्बं पश्यन्ति ते नराः धार्मिकाः भुवि ॥ ६१ ॥
[स्वामि कुल भूषण कृत सारचतुर्विंशति स्तवन]

अर्थ—धर्मात्मापुरुष वे हैं, जो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा पर न केशरादि का विलेपन करते हैं और न केशरादि से युक्त प्रतिमा की पूजा, वन्दना एवं स्तुति ही करते हैं। और भी कहा है—

"कर्पूरकुंकुमरसेन सुचन्दनेन,
श्रीमज्जिनेद्रचरणाग्रविलेपणेन।

पूजन्ति ये भविजनाः सुसुगन्धवान्धा,
दिव्याङ्गनापरिवृताश्च सदा वसन्ति ॥ १ ॥ [सिद्धनन्द्याचार्यकृत प्रबोधसार]

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के आगे कपूर चन्दन कुंकुमादिमिश्रितरस को जो विक्षेपण (त्याग) करते हैं अर्थात् चढ़ाते हैं वह भव्य उत्तम देव पर्याय का उत्तम सुगन्ध अंग और अनेक प्रकार के देव पर्याय के सुखों का अनुभव सागरों पर्यन्त करते हैं।

और भी कहा है—

"चन्दनागुरुकाश्मीरसम्भवैः सुविलेपनैः।
जिनेन्द्रचरणाम्भोजं चर्चयन्तिस्म शर्मदम् ॥ १ ॥ [पूजासार भट्टारक अजित सेन कृत]

अर्थ—चन्दन, अगुरु और केशर को भगवान् चरण कमल के आगे चढ़ाओ। और भी कहा है—

"यद्वद्वचो जिनपतेः भवतापहारि,
नाहं सुशीतलमपीह भवामितद्वत् ॥
कर्पूरचन्दनमितीव मयार्पितं सत्।
त्वत्पादपंकजसमाश्रयणं करोति" ॥२॥ [पद्मनन्दि पंचविंशतिका, पूजाष्टक]

अर्थ—जिस प्रकार भगवान के वचन समस्त संसार के संताप के हरण करने में समर्थ हैं उसी प्रकार अत्यन्त शीतल भी मैं संसार के संतापों के हरण करने वाला नहीं हूँ। इसलिये ऐसा समझ कर मेरे द्वारा चढ़ाया हुआ यह कपूर मिश्रित चन्दन हे भगवन्! आप के चरण कमलके आश्रय करता हूँ।

यहां पर जितने भी दृष्टान्त दिये गये हैं उन सब में भगवान्के चरणों में केशर लगाना महा पाप है, ऐसा बताया है। केशर चढ़ी हुई प्रतिमा का धार्मिक पुरुष को दर्शन नहीं करना चाहिये। कारण केशर चढ़ी हुई प्रतिमा के दर्शन पूजन से महान् कर्म बन्ध होता है।

आगे और भी प्रमाण देते हैं:—

"स परा जंगमदेहा—जिनप्रतिबिम्बं भवति ।

"जंगमदेहा अपरा अर्थात् अजंगमदेहा सुवर्णमरकतमणिरचिता, स्फटिकमणिघटिता, इन्द्रनीलमणिनिर्मिता, पद्मरागमणिरचिता, विद्रुमकल्पिता, अजंगमा प्रतिमा कथ्यते। तीर्थंकरपरमदेवानां प्रतिमा भवति, निर्ग्रन्थवस्त्राभरणजटामुकुटायुधरहित तथा वेशभूषारहितवीतरागो अवतरिता। जिनमार्गे सर्वज्ञवीतरागमते ईदृशी प्रतिमा भवति ॥१॥

[षट् प्राभृत श्रुतसागरी टीका]

और भी कहा है—

"व्यापत्ति व्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणारागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि संयमिनां ॥ १ ॥ [षट् प्राभृत पृ. ८५]

टीका—चकारात् पाषाणादिघटितस्य जिनबिम्बस्य स्नपनैः (अभिषेचनं) तथा अष्टविधैः पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुतः । कस्य कुरुतः जिनबिम्बस्य वेषभूषायुधैरहितः। इदं प्रकारं जिनबिम्बस्य। अन्य प्रकारं जिनबिम्बं मानितं। तदा कुंभी पाकादि नरकादौ पतिष्यति।

सग्रन्थस्य बिम्बस्य अर्चनं स्नपनैः कुरुतः तस्य फलं प्राप्तिः कुंभीनरकः सप्तमे नरके पंचबिलानि तेषां नामानि यथा रौरवमहारौरवासिपत्रकूटशाल्मलीकुंभीपाकतां पतन्ति ।

और भी कहा है—

"जिणबिम्बं जिणरूवं, जिणमग्गे इव भणिये या ।
अपरा पूजमि बंदमि, जो होइ मिच्छाइट्ठी ॥"

अर्थ—जिनेन्द्र की प्रतिमा जिन मार्ग विषै कही है वैसी के सिवाय वंदना करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है।

और भी कहा है—

"भागचन्द निरद्वन्द्व निरामय, निश्चयमूरति सिद्ध समानि।
नित अकलंक अवंक संक विन, निर्मल पंक विना जिमि पानी॥ १॥ [कवि भागचन्द]

देखो पण्डितजी के पद के अन्दर भगवान् का स्वरूप द्रव्य कर्म और भाव कर्म से रहित शुद्धात्मानुभूति रूप बताया है। ऐसा ही स्वरूप समोसरण महिमा में पं० जयधवलजी ने भी लिखा है। फिर आभरण सहित प्रतिमा कैसे और क्यों मानी जावे? इस कारण जिनमत में सर्व प्रकार के वेश भूषा और आभरण से रहित ही जिन प्रतिमा आदर्श है, अन्य नहीं है।

आगे और भी प्रमाण देते हैं—

अट्ठुत्तरसयसंख्याजिणवरपासादमज्झ भायम्मि।
सिंहासणाणि तुंगा सपायपीढा य फलिह मया॥ १८७०॥
सिंहासणाणे उवरिं जिण पडिमा ओ अणाइ णिहणाहो।
अट्ठुत्तरसयसंख्या पणसय चावाणि तुंगाओ॥ १८७१॥
मिणिंणदमीलमरगयकुंतलभूवग्गदिण्णसोहाओ।
फलिहिं दणील णिम्मिद धवलासिदणेत्त जुयला ओ॥ १८७२॥
वजमयदंत पंती पहाओ पल्लव सरिच्छवधराओ।
हीरमयवरणहाओ पउ मारुणपाणि चरणाओ॥ १८७३॥
अट्ठुमहियसहस्सप्पमाणवंजण समूह सहिदाओ।
वत्तीस लक्खणेहिं जुत्ताओ जिणेस पडिमाओ॥ १८७४॥ [तिलोयपण्णत्ती]

अर्थ—जिनेन्द्र प्रसाद के मध्य भाग में पाद पीठों से सहित स्फटिक मणि मय एक सौ आठ उन्नत सिंहासन हैं।

सिंहासनों के ऊपर पांचसौ धनुष प्रमाण ऊंची एक सौ आठ अनादि निधन जिन प्रतिमायें विराजमान हैं।

ये जिनेन्द्र की प्रतिमायें भिन्न २ इन्द्र नील मणि व मरकत मणि मय कुंतल तथा भ्रकुटियों के अग्रभाग से शोभा को प्रदान करने वाली स्फटिक मणि और इन्द्र नील मणि से निर्मित धवल व कृष्ण नेत्र युगल से सहित, वज्रमय दन्तपंक्ति की प्रभासे संयुक्त, पल्लव के सदृश अधरोष्ट से सुशोभित, हीरे से निर्मित उत्तम नखों से विभूषित, कमल के समान लाल हाथ पैरों से विशिष्ट, एक हजार आठ व्यञ्जन समूह से सहित और बत्तीस लक्षणों से युक्त है।

इस प्रकार अकृत्रिम जिन मन्दिरों में जिन प्रतिमाओं का वर्णन है। यहां पर भी वेष भूषा रहित ही प्रतिमा का वर्णन है और प्रकार का नहीं है।

आगे और भी प्रमाण देते हैं—

"सपरा जंगम देहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥ [बोधपाहुड़]

अर्थ—दर्शन ज्ञान शुद्ध निर्मल है चरित्र जिन के तिन की स्वपरा कहिये अपनी और पर की चालती देह सो जिन मार्ग विषै जंगम प्रतिमा हैं।

अथवा स्वपरा कहिये आत्मातें भिन्न ऐसी देह सो कैसी है कि जो निर्ग्रन्थ स्वरूप है, जिस के कुछ परिग्रह का लेश मात्र भी नांही ऐसी दिगम्बर मुद्रा जिसके काहू वस्तु से राग द्वेप नांही वीतराग स्वरूप चउबीस प्रकार के बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से रहित जिनमत में स्थावर प्रतिमा कही हैं।

आगे और भी प्रमाण देते हैं—

"निराभरणभासुरं विगत रागरागोदयात्।
निरम्बरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः ॥

निरायुधसुनिर्भयं विगत हिंस्य हिंसाक्रमा—
निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात् ॥ १ ॥ [षट्प्राभृत गोतमर्षि ३० ७६]

इस का अर्थ पूर्ववत् ही है अतः नहीं लिखा जाता है।

आगे और भी कहते हैं—

"जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥ ११ ॥ [बोध पाहुड]

अर्थ—जो शुद्ध आचरण को आचरे और सम्यग्ज्ञान कर यथार्थ पदार्थ को जाने, और सम्यग्दर्शन कर शुद्धात्मा का जो श्रद्धान करे, इस प्रकार की शुद्धासंयत निर्ग्रन्थ प्रतिमा वंदवे योग्य है, अन्यथा नहीं। जिसके बाह्य आभ्यन्तर (चौबीस प्रकार का परिग्रह) का त्याग है सो ही प्रतिमा वंदवे योग्य प्रतिमा है।

आगे और भी कहते हैं—

प्रशान्तकरणं वपुर्विगतभूषणं चापि ते
समस्तजनचित्तनेत्रपरमोत्सवत्वं गतम् ।
विनायुधपरिग्रहाज्जिन ! जितास्त्वयादुर्जयाः ।
कषायरिपवोऽपरैर्न तु गृहीतशस्त्रैरपि ॥ १७ ॥ [पात्रकेशरी स्तोत्र]

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आप के शरीर की समस्त इन्द्रियां अत्यन्त शान्त होगई हैं और आप के शरीर पर कोई प्रकार का वेष-भूषा आवरण नहीं है, तथापि आप का शरीर समस्त जीवों के हृदय को और नेत्रों को परम उत्सव और आनन्द का करने वाला है तथा हे भगवान् ! आपने कोई प्रकार का शस्त्र धारण नहीं किया तो भी अत्यन्त दुर्जय कषाय रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, यह शक्ति निर्ग्रन्थ, वेश भूषा आदि परिग्रह रहित स्वरूप का ही माहात्म्य है। वही जिनमत में महान् उत्कृष्ट पूजा स्वरूप प्रतिमा मान्य है, अन्यथा नहीं।

सिंहई हजारीलाल ने इस सम्बन्ध में निम्न स्तवन लिखा है—

दोहा

"वीतराग स्तवन फल सुनो भव्यचित्तलाय ।
कर्मकलंक खिपाय के, वशे मोक्ष पुरजाय ॥ १ ॥

चौपाई—

"वीतराग का लक्षण सुनो, भवसंसार पंच को हनो ।
मोहनाशकर भये सर्वज्ञ, छोड़े दुष्ट घातिया मज्ञ ॥
समोसरण लक्ष्मी से दूर, अन्तरङ्ग लक्ष्मी भरपूर ।
आत्म अन्त चतुष्टय समुदाय, वेशा भूषा कछु नहीं थाय ॥
परमोदारिक शरीर मनोग, चन्दन कुंकुम कछु नहीं रोग ।
हो सर्वज्ञविम्ब जो अशा, पूजे वंदे कर्म जो नशा ॥
बालग कोडि परिग्रह होय, जिनमत की प्रतिमा नहीं सोय ।
वेशा भूष को वंदेसोय, जातेजीव नरक में होय ॥
सौ मिथ्यात्वी भ्रमे संसार, कहती जिनवाणी हरबार । [

भावार्थ—कहां तक कहा जाय आचार्यों के प्रमाण तो पहले ही बहुत से दे दिये । परन्तु भाषाकार भी उनके वचनों की परिपुष्टि करते हैं कि जिस प्रतिमाजी के ऊपर बाल के कोटि भाग भी परिग्रह हो, आवरण एवं वेश भूषा होवे और जो जीव उसकी वन्दना करेतो नियम कर वह जीव मिथ्यात्वी होकर नरक में जावे तथा संसारी होता हुआ संसार में परिभ्रमण करे । इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि ऐसा जिनेद्र भगवान के वचन दिव्यध्वनि से प्रकट होता है कि चन्दन कुंकुम लगी जिनेन्द्र की प्रतिमा नहीं पूजनी चाहिये, अपूज्य है ।

सं. प्र.

क्रिया कलाप नामक ग्रन्थ में जब परिग्रह त्याग नाम महाव्रत लिया जाता है, उसका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है-सो यहां दर्शाते हैं।

"अप्पं. वा. बहुं वा अणं वा थूलं वा सचित्तं वा अचित्तं वा अमुत्थं वा बहित्थं वा अवि वालग्ग कोडि मित्तंपि णेव सयं असयण पाउग्गं परिग्गहं। [पं० पन्नालाल सोनी संग्रहीत पृ. १०१ पं. १४]

इस प्रकार शास्त्रों में जब प्रमाण मिलता है, तो फिर किस प्रकार परिग्रह सहित प्रतिमा मान्य हो सकती है। परिग्रह रहित प्रतिमा का ही स्तवन करके लोक आत्म कल्याण कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसका और भी प्रमाण देते हैं—

"जिणबिंबणाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्ख सिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा ॥ १६ ॥ [बोध प्राभृत]

टीका—तृतीय परमेष्ठी आचार्य संज्ञको जिनबिम्बमाकारो जिनबिम्ब ज्ञातव्य इत्यर्थः चकारात्तद्गुणाधिकारोपणा निषेधिका च जिनबिम्बं भवति।

यहां पर आचार्य का स्वरूप ऐसा बताया कि आचार्यों के ऊपर न तो पुष्प चढ़ते हैं, और न किसी से कहकर चढ़वाते हैं।

और भी कहा है—

"जिणमग्गे पव्वज्जा छह संघयणेसु भणिय णिग्गंथा" ॥ ५४ ॥ [बोध पाहुड़]

टीका—षट्सु संहननेषु "भणिया णिग्गंथा" कथंभूता भणिता निर्ग्रन्था यथाजातरूपधारिणी इति निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या ज्ञातव्या।

यहां पर प्रव्रज्या है सो जिन मार्ग विषैं छहों संहननवालों के होती है। कैसी है प्रव्रज्या-निर्ग्रन्थ स्वरूप तथा सर्व परिग्रह से रहित यथाजात स्वरूप जानना।

और भी कहा है—

"जिणवरमएण जोई झाणे झाएइसुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किंतेण सुरलोयं ॥ २० ॥ [मोक्षपाहुड़]

टीका—जिनवरमतेन जिनशासनेन सम्यक्त्वश्रद्धानज्ञानानुभवनलक्षणेन रत्नत्रयेण योगी दिगम्बरो मुनिः । शुद्ध रागद्वेषमोहादि रहितं कर्ममलकलंकरहितं टंकोत्कीर्णस्फटिकमणि बिम्बसदृशं ।

यहां पर जिनेन्द्र भगवान के मत से तथा जिन शासन से सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानानुभवन रूप लक्षण से रत्नत्रय सहित ही दिगम्बर मुनि होता है । सो कैसा है कि शुद्ध सो राग द्वेष मोहादि रहित अर्थात् कर्म कलंक रहित, टंकोत्कीर्ण स्फटिक मणि के बिम्ब के समान जिसके किसी प्रकार का दाग भी नहीं हो, वेषा भूषा रहित ऐसी प्रतिमा जैन मार्ग विषै होवे है सोही पूज्य है । और प्रकार होयसो जिन मत में पूजने योग्य नहीं है ।

आगे और भी कहते हैं—

"वालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं ।
भुंजेइ पाणिमत्ते दिण्णं इक्कठाणम्मि ॥ १७ ॥ [सूत्र पाहुड़]

टीका—बालस्य रोम्णोऽग्रकोटिमात्र अग्राग्रमात्रं अतीवाल्यमपि परिग्रहस्य ग्रहणं स्वीकारो न भवति साधूनां निरम्बरयतीनाम् ।

"जह जायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं न गहदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुणजाइ णिग्गोदं ॥ १८ ॥ [सूत्रपाहुड़]

टीका—यथाजातरूपः सर्वज्ञवीतरागस्तस्य रूप सदृशो नग्न शरीरः । तिलस्य पितृप्रियकणस्य तुषस्त्वङ्मात्रं न

गृह्णाति हस्तयोरित्युत्सर्गव्याख्यानं प्रमाणामेव ।

"जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहु यं च हवइ लिंगस्स ।
सोगरहिउ जिणवयणे परिगहरहियो निरायारो ॥ १९ ॥ [सूत्रपाहुड]

टीका—यस्य मुनेः श्वेताम्बरादेः परिग्रहग्रहणं शासने भवति । अल्पं बहुलं चतुर्विंशत्यावरणादिकं भवति लिंगस्य ते जिनमार्गविहितः तल्लिंगं वेषो निन्दितोऽप्रशंसनीयो भवति ।

अर्थ—बाल के अग्रभाग की कोटि कहिये अणीमात्र भी परिग्रह साधुके ग्रहण नहीं होय है । १७

जैसे मुनि है सो यथाजात रूप होय है । जैसे जन्मता बालक नग्न रूप होय है सो नग्न रूप है सो ही दिगम्बर कहलावे हैं । सो अपने हस्त विषै व पांव से तिलतुष मात्र भी कछु ग्रहण नहीं करे । जो कछु अल्प बहुत ग्रहण करे तो निगोद जावे ऐसी प्रतिमा होय है । १८

जिस लिंग में तथा भेष में अल्प वा बहुत परिग्रह का ग्रहण होय सो धर्मात्माओं से गर्हित है । जिनमत में तो परिग्रह रहित है सो ही निरागार मुनि कहलावे हैं ।

आगे और भी कहते हैं—

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्वाशयप्रणामा महितः ।
लोकत्रयपरमहितो जनावरणाज्योतिरुज्वलद्धामहितः ॥ १३६ ॥ [वृहत्स्वयंभू]

अर्थ—हे भगवन् ! वीर ! आप सुरासुरों से वन्दित और तीनलोक के हित कारक निरावरण, परिग्रह रहित, उज्ज्वल प्रकाश मान ज्योति सहित पूज्य हो ।

और भी कहा है—

"णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहिय जिणेहिं पण्णत्तं ॥ ५५ ॥ [भावप्राभृत]

टीका—नग्नत्वं सर्वबाह्यपरिग्रहरहितत्वम् अकार्यं सर्वकर्मक्षयलक्षणे मोक्षकार्ये रहितम् । अतः सर्वपरिग्रहरहितं हि स्फुटं मोक्षमार्गं भवति इत्यर्थः ।

"देहादिसंगरहिओ ॥ ५६ ॥ [भावप्राभृत]

टीका—संगानां चेतनाचेतनबहिरंगान्तरङ्गपरिग्रहाणां ते देहादि संगा ।

"णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा णिद्दोसा"
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४९ ॥ [बोध पाहुड]

टीका—सर्वं परिग्रहरहिता निस्संगादेहा सः पूज्या. ।

"णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भयणिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५० ॥ [बोध पाहुड]

टीका—निः स्नेहा पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहरहिता अथवा तैलाद्यभ्यङ्गरहिता निः स्नेहा ।

जब यहां पर तेल के भी संसर्ग की मनाई की है तो कारण पायकर किस प्रकार केशर लगाई जावे, केशर लगाई जावे तो वह प्रतिमा परिग्रह सहित शास्त्रकारों ने अवन्दनीय मानी है । कहाभी है—

"आकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवे ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ ११० ॥ [आत्मानुशासन]

अर्थ—संसार भरके जितने भी जड़ पदार्थ हैं सो सब मेरी आत्मा से भिन्न हैं । और मैं ही सर्व संसार का अधिपति (परमात्मा) ईश्वर हूँ । इस प्रकार की भावना से तू (अहं) अर्हत् हो जावेगा ऐसा स्वरूप निरावरण परमात्मा का होता है सो योगियों के गम्य हुआ करता है । और भी कहा है—

"आरंभे णत्थि दया महिलासंगएण णासायबंभं ।
संकाए सम्मत्तं पव्वज्जा अत्थगहणेण ॥"

अर्थ—आरंभ में रंचमात्र भी दया नहीं होती और न स्त्रियों के सम्बन्ध से राग का छुटना होता है। इस कारण राग द्वेष से मुक्त निरावरण बिना वेष भूषा ही दीक्षावाला प्राणी मोक्ष को प्राप्त करता है। जिन मत मे जिस प्रतिमा में बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह में से कोई भी परिग्रह न पाया जावे वह ही प्रतिमा पूज्य है। यदि परिग्रह सहित भी पूज्य होती तो मुनिव्रत धारण करने की आवश्यकता ही न होती। और भी कहा है—

"सहज परम कायः" ॥ ३ ॥

"त्यजतमलकलंको धौत संसार पङ्कः" ॥ ४ ॥

"विगत जनन दोषः" ॥ ५ ॥ [संखदेवाष्टक] सि. सा. सं. पृ. १६७

अर्थ—जिनकी जन्मते बालक जैसी काय है, जिन्होंने संसार रूपी वेष भूषा आभरणों को छोड़ दिया है और जिन्होंने संसार रूपी भावनाओ को धोडाला है तथा जिन्होंने आभरण वेष भूषा अलंकार ससारी जीवों का सा सर्वथा त्याग दिया है—ऐसे निर्मल पवित्र भगवान का स्वरूप ही वंदवे योग्य है अन्यथा नहीं।

और भी कहा है—

"तम्मूले पलियंकग जिणपडिमा पडिदि सम्हि चत्तारि ।
चउतोरणजुत्ता ते भवणेसु च जंबुमाणद्धा ॥ २५४ ॥ [त्रिलोकसार व्यन्तर लोकाधि०]

अर्थ—तिन चैत्यवृक्षनि के मूल विषैं पल्यंक आसन को प्राप्त ऐसे जिन प्रतिमा एक एक दिशा प्रति च्यार २ पाइए है। बहुरि ते प्रतिमा च्यारि तोरण द्वारनि कर संयुक्त हैं। बहुरि भवननि विषै ते चैत्य वृक्ष हैं ते आगे जंबूद्वीप का वर्णन विषै जंबूवृक्ष के परिकर का प्रमाण कहेंगे ताते अर्द्ध प्रमाण जानने।

"चउचेत्तदुमा जंबूमाणा कप्पेसु ताण चउपासे।
पल्लंकगजिण पडिमा पत्तेयं ताणि वंदामि ॥ ५०२ ॥ [त्रिलोकसार वैमानिकाधिकार]

अर्थ—सौधर्मादिक कल्प विषै चारों वन सम्बन्धी च्यारि चैत्यवृक्ष हैं। ते एक २ जंबू वृक्ष समान प्रमाण धरे हैं। जंबू वृक्ष का उचाई आदि का प्रमाण आगे कहेंगे। तिहि समान ए जानने। बहुरि तिन एक २ चैत्य वृक्षनि कै चारों पार्श्व विषै पल्यंकासन जिन प्रतिमा विराजे हैं। तिनको मै कहूँहों।

भावार्थ—यहां पर जो प्रतिमाजी बतलाई है सो विना वेष भूषा की हैं। उन प्रतिमाजी के पास दर्वाजे पर तो तोरण वगैरह कहा है। परन्तु प्रतिमाजी के वास्ते कोई आडम्बर जैसे केशर पुष्प का वर्णन नहीं किया। क्यों करें। वहां पर कोई वेष भूषा है ही नहीं। यदि होता तो वर्णन करते। इस कारण ऐसा वर्णन कर कौन नरक निगोद का बंधन बांधे। क्योंकि सिद्धान्त तो जिन प्रतिमा को निरावरण मानता है। अतः शास्त्र विरुद्ध को कौन निष्पादन करे तथा दुर्गति का बन्ध बांधे। सब का निष्कर्ष यह ही है कि प्रतिमा बालक के समान शुद्ध निर्विकार ही पूज्य है अन्यथा अपूज्य है।

आगे और भी कहते हैं—

"संपुण्ण चंदवयणो जडमउडविवज्जिओ णिराहरणो।
पहरण जुवइ विमुक्को संतिपरो होइ परमप्पा ॥ १२२ ॥
णिब्भूसणो वि सोहइ कोहाए प्पमओमणो णत्थि।
जह्मा विपाररहिओ णिरंबरो मणोहरो तह्मा ॥ १२३ ॥ [धम्मरसायणं, सि. सं. में]

अर्थ—जिन के शरीर की आकृति चन्द्रमा के प्रतिविम्ब से भी करोड़ गुणी स्वच्छ, जटा मुकुट तथा आभरणों से एवं वेष भूषा से रहित शान्तिमय सांसारिक-विषय कषाय स्त्री संग से रहित है, हे जिनेन्द्र ! ऐसा आपका स्वरूप है।

जिनके किसी प्रकार के भूषणों से शोभा नहीं, और न जिनके किसी प्रकार का क्रोधादिक विभाव ही है और जिनके किसी प्रकार का अंबर अर्थात लेप आभूषण नहीं है हे-जिनेन्द्र ! आप का ऐसा महा मनोहर स्वरूप जैसा त्रिलोक में अन्य पुण्याधिकारी

जीवों को नांही सो भी निरावरण, आयुध रहित जन्मते बालक के समान संसारी जीवों का हितकारी है ऐसे आप जयवन्त रहो। हे निज भूषण ! विगतदूषण ! तुमारी सदा जय होवे। इस प्रकार जिनकी देवों कर स्तुति पाई जावे सो देव पूज्य है।

और भी कहा है—

"णिग्गंथमोहमुक्का" ॥ ८० ॥ [मोक्षपाहुड]

अर्थ—जो मुनि निर्ग्रन्थ अन्तरंग और बाह्य परिग्रह से रहित हैं वह ही आकृति जिन प्रतिमा की पूज्य मानी है।

और भी कहा है—

अन्यलिङ्गिगृहात् परिग्रहाः जिनलिंगेन मुच्यते"

अर्थ—अन्य दर्शनों में जितने भी पूज्यता के स्थान हैं सो सब ही परिग्रह धारण करने वाले होते हैं। परन्तु संसार में एक यह जैन धर्म ही परिग्रह वेप भूषा आभरण रहित आत्मा अथवा प्रतिबिम्ब को पूजने वाला है। तब ही इन आत्माओं का कल्याण होता है और अन्य का कल्याण करते हैं।—

और भी कहा है—

"वालग्गकोडिमत्त' परिगह गहणं ण होइ साहूणां। [सूत्र पाहुड]

अर्थ—बाल के अग्र भाग की कोटि भागकरिये तीमें से एक अणी मात्र भी परिग्रह साधु के नहीं होवे हैं। अर ग्रहण करेतो जिन सूत्र से विरुद्ध है।

भगवान कुन्द कुन्द ने जो प्रतिमा का स्वरूप बताया है उसे लिखते हैं।

"सपरा जंगम देहा दंसण णाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथ वीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञानकरि शुद्ध है निर्मल है चरित्र जिनके तिनकी स्वपरा कहिये अपनी तथा पर की चालती देह है सो जिन मार्ग विषैं जंगम प्रतिमा मानी है। अथवा स्वपरा कहिये आत्मातैं पर कहिये भिन्न है ऐसी देह सो कैसी है निर्ग्रन्थ स्वरूप है जाके कछु परिग्रह का लेश नाहीं है सोही दिगम्बर मुद्रा मान्य है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण में लिखा है—

"अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा सचित्तं वा अचित्तं वा अमुत्थं वा बहित्थं वा अविवालग्गकोडिमित्तपिणेव सयं" इति

अर्थ—"अल्प-बहुत, अणु-स्थूल, सचित्त आभ्यन्तर-बाह्य, किसी प्रकार का भी एवं बाल के करोड़वां भाग भी मेरे परिग्रह न हो।

क्रिया कलाप ग्रन्थ के पृ० १०१ छापे के पंक्ति १४ वी में लिखा है कि जिस के पास बाल के करोडवें भाग भी परिग्रह हो वह संयमी नहीं हो सकता।

ज्ञानार्णव में भी कहा है—

"निःशेषभवसंभूतं क्लेशद्रुमहुताशनं।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपज्ञानराजप्रतिष्ठिते ॥ ३१ । २४ ॥
निर्लेपो निःष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ॥ ३८ । ८ ॥

अर्थ—जो सम्पूर्ण संसार में अनेक पर्यायों में उत्पन्न किये हुए कर्मों को एवं क्लेश रूपी वृक्षों को दग्ध करनेवाला अग्नि रूप, शुद्ध अत्यन्त निर्लेप ज्ञान साम्राज्य अर्थात् सर्वज्ञता पर निर्लेप निकल शुद्ध अत्यन्त निर्वृत्त निर्विकल्प और शुद्धात्मा होकर स्थित हो उसे परमात्मा कहते हैं। तात्पर्य-यहां पर भी भगवान को निर्लेप बताया है।

सहस्रनाम में भी १००८ नामों में निर्लेप लिखा है।

"व्योममूर्तिरमूर्तात्मा निर्लेपोऽमललोचनः ॥

उल्लिखित अनेक प्रमाणों से भगवान परिग्रह रहित और निर्लेप हैं यह सिद्ध किया जा चुका है। अतः भगवान के ऊपर केशर का लेपन करना आगम विरुद्ध समझकर नहीं करना चाहिए। आगे जिन प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं—

"जिण बिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्ख सिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥ १६ ॥ [बोध पाहुड]

अर्थ—जिन विम्ब कैसा है, ज्ञानमयी संयम करि शुद्ध है। और अतिशय कर वीतराग तथा कर्मक्षय का कारण शुद्ध जिनमत में बालक तुल्य दीक्षा शिक्षा होय है।

और भी कहा है—

"णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं" ॥ ५६ ॥ [बोध पाहुड]

अर्थ—जिन प्रतिमा निर्ग्रन्थ रूप होय हैं। जामें बाह्य और आभ्यन्तर लेश मात्र, परिग्रह नांही सोही पूज्य होय है।

और भी कहा है—

"जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं णगिह दिहत्तेसु।
जइलेइ अप्पबहुयं तत्तो पुणजाइ णिग्गोदम् ॥ १८ ॥ [सूत्र पाहुड]

अर्थ—मुनि का स्वरूप होवे है, सो यथाजात रूप होवे है जैसे जन्मता बालक नग्नरूप होय है। तैसा मुनि का स्वरूप दिगम्बर मुद्रा का धारक नग्न रूप होय हैं। अपने हस्त के विषै तिल तुषमात्र भी परिग्रह कुछ ग्रहण नहीं करे हैं। कदाचित् कोई मुनि अल्प वा बहुत ग्रहण करे तो ग्रहण करने का फल से वह मुनि निगोद का पात्र होवे। यानी उस पाप से निगोद में जावे।

और भी कहा है—

"पुरोरङ्गवल्यातते भूमिभागे ।
सुरेन्द्रोपनीता वभौ सा सपर्या ॥
शुचिद्रव्यसंपत्समस्तैव भर्तुः ।
पदोपास्तिमिच्छुः श्रितातच्छलेन ॥ १०७ ॥ [आदि पुराण पर्व २३]

अर्थ—सुरेन्द्रनिकर कल्याण पूजा का द्रव्य जो सो श्री जिनेन्द्र भगवान के चरण कमल के पास रंगावली की भांति भूमि के भाग विषै चढाया गया।

यहां पर जो चरणों पर केशर पुष्प चढता होता तो इन्द्र जो पूजन का द्रव्य लाया था उसमें केशर पुष्प जरूर लाता। और उसे पृथ्वी पर रंगावली के समान क्षेपण करता; या चरणों पर ही चढ़ाता, परन्तु ऐसा न होने से पृथ्वी पर चढाया। क्योंकि वीतराग को सराग बनाने के बराबर अन्य पाप नहीं है। यातें देवों ने सामग्री चरणों के पास ही चढाई।

नित्य पूजन का स्वरूप

अब आगे क्रम प्राप्त नित्य पूजन का स्वरूप बतलाते हैं –

"तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनं ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावत् यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥ १ ॥"

अर्थ—हे जिनेन्द्र देव ! आपके दोनों चरण मेरे हृदय में विराजमान रहें। तथा मेरा हृदय आपके चरण द्वय में अवच्छिन्न लवलीन रहे जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति न होजावे।

इस प्रकार ईश्वर के द्वय चरणों को अपने हृदय रूप ठोने में पुष्प (रंगेहुए चावलों) की पुष्पांजलि क्षेपण करी। उसके ऊपर भावों से विराजमान करके अष्ट द्रव्य से पूजा करनी चाहिये।

पूजा के द्रव्य

जल द्रव्य से पूजन

अब आगे क्रम से आठों द्रव्यों का वर्णन शास्त्रानुसार करते हैं—

"जातिर्जरामरणमित्यनलत्रयस्य ।
जीवाश्रितस्य बहुताप कृतो यथावत् ॥
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ ।
धारात्रयं प्रवरवारिकृतं क्षिपामि ॥ १ ॥ [पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका]

अर्थ—जीवके आश्रित अनन्त संताप को देने वाली जन्म, जरा और मरण को करने वाली, ये तीन प्रकार की अग्नि है। उन तीनों प्रकार की अग्नि को बुझाने के लिये श्री जिनेन्द्र भगवान के दोनों चरणों के अग्र भाग की भूमि में उत्तम शुद्ध जल कृत तीन धाराओं को क्षेपण करता हूँ। इस प्रकार पूजन में जल चढ़ाना चाहिये।

और भी कहा है—

"ततोनीरधारां शुचि स्वानुकारां,
लसद्रत्नभृंगारनालस्रुतां तां ॥
निजां स्वान्तवृत्तिं प्रसन्नामिवोच्चैः ॥
जिनोर्पाघ्रि संपातयामास भक्त्या ॥ १०६ ॥ [आदि पुराण पर्व २३]

अर्थ—तदनन्तर इन्द्राणी ने भक्ति पूर्वक भगवान के चरण कमलों के समीप देदीप्यमान रत्नों के भृंगार (झारी) की नाल से निकलती हुई पवित्र जल की धाराएँ क्षेपण कीं। वह जल की धारा इन्द्राणी के शुद्ध अन्तः करण के समान निर्मल और पवित्र थी।

चन्दन द्रव्य से पूजन

"अर्चयन्ति जिनेन्द्रं ये नित्यं कर्पूर कुंकुमैः।

मिश्रैः सच्चन्दनैः स्वर्गे सुगन्ध्यङ्गं भजन्ति ते ॥ १८७ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अध्या, २०]

अर्थ—जो प्रति दिन कपूर और कुंकुम से मिले हुए चन्दन से भगवान जिनेन्द्र देव की पूजन करते हैं वे उसके प्रभाव से स्वर्गों में अत्यन्त उत्तम सुगन्धित शरीर पाते हैं।

आगे और भी बताते हैं—

"स्वरुद्भूतगन्धैः सुगन्धीकृताशैः।
भ्रमद्भृङ्गमाला कृतारावहृद्यैः॥
जिनाङ्घ्रीस्मरन्ती विभोः पादपीठम्।
समानर्च भक्त्या तदा शक्रपत्नी॥ ११० ॥ [आदिनाथ पुराण पर्व. २३]

अर्थ—उसी समय इन्द्राणी ने भगवान् के दोनों चरण कमलों का स्मरण करते हुये भक्ति पूर्वक, जिस गन्ध की सुगन्ध से सब दिशायें सुगन्धित हो रही हैं, जिस पर फिरते हुए भ्रमरों के समूह से मनोहर शब्द हो रहे हैं ऐसे स्वर्ग के सुगन्धित गन्ध (चन्दन) से भगवान के सिंहासन की पूजा की।

अक्षत पूजन का विधान

"शाल्यक्षतैरखण्डैश्च सदुज्ज्वलैर्जिनेश्वरान्।
समर्चयंति ये भव्याः ते भजंति शिवं सुखम्॥ १८८ ॥[प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अध्या २०]

अर्थ—जो भव्य जीव अखण्ड और उज्ज्वल अक्षतों से भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करते है वे अक्षयपद वा मोक्ष के परम सुख को प्राप्त होते हैं।

और भी कहा है—

"राजत्यसौ शुचितराक्षतपुञ्जराजिः
दत्ताधिकृत्य जिनमक्षतमक्षधूर्तैः।

वीरस्य नेतरजनस्य तु वीरपङ्क्तो ।
वद्धः शिरस्यतितरां श्रियमातनोति ॥ ३ ॥ [पद्मनन्दि पूजाष्टक]

अर्थ—इन्द्रियरूपी धूर्तों से नष्ट नहीं किये गये ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान् हैं उनको आश्रयकर जो अक्षतों के पूंज चढाये हैं वे पृथ्वी पर चढाने योग्य हैं।

पुष्प पूजन का विधान

"तथाऽम्लान मन्दारमाला शतैश्च ।
प्रभोः पादपूजामकार्षीत्प्रहर्षात् ॥ ११२ ॥ [आदि पुराण पर्व २३]

अर्थ—तैसे ही इन्द्राणी नवीन प्रफुल्लित मन्दार जाति के कल्प वृक्षों के पुष्पों की सैंकडों मालाओंसे भगवत् चरणों की पूजा करती भई। और भी कहा है—

"विनीतभव्याब्जविबोधसूर्यान्,
वर्यां सुचर्याकथनैकधुर्यान् ।
कुन्दारविन्दप्रमुखप्रसूनै—
र्जिनेन्द्रसिद्धान्तयतीन् यजेऽहम् ॥ ४ ॥ [पद्मनन्दि पूजाष्टक]

अर्थ—विनयवान भव्यजीव रूप कमलनि के वन को जागृत करने में सूर्य, और उत्कृष्ट चर्या (आचरण) के कथन में अद्वितीय-धुरा के धारण करने वाले ऐसे जिनेन्द्र सिद्धान्त और यतीश्वर हैं। तिनको कुन्द अरविन्द आदि पुष्प हैं तिनसो पूजे हैं। यह कथन नित्य पूजा के अष्टक का है। और भी कहा है—

"जातिचम्पकसत्पद्मकेतक्यादिप्रसूनकैः ।
पूजयंति जिनान्भव्या नाके ते यांति पूज्यतां ॥ १९९ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रावका चाराध्याय २०]

अर्थ—जो भव्य प्राणी जाति, चम्पा, कमल, और केतकी आदि पुष्पों के द्वारा भगवान् श्रीमद् जिनेन्द्र देव को पूजते हैं, वे जीव स्वर्ग में पूजे जाते हैं।

प्रश्न—पुष्प कैसे होने चाहिये ?

उत्तर—पुष्पों के लिये आचार्यों ने यह प्रमाण बताया है।

"हस्तात् प्रस्खलितं क्षितौ निपतितं लग्नं क्वचित्पादयोः।
यन्मूर्ध्नोर्ध्वगतं धृतं कुवसने नाभेरधो यद्धृतम् ॥
स्पृष्टं दुष्टजनैर्घनैरभिहतं यद् दूषितं कीटकै—
स्त्याज्यं तत्कुसुमं वदन्ति विबुधाः भक्त्या जिन प्रीतये ॥ १३१ ॥ [उमास्वामि श्रावकाचार]

अर्थ—जो पुष्प हाथ से प्रस्खलित होकर पृथ्वीपर गिर गया हो, पैरों में लग गया हो, मस्तक पर धारण कर लिया हो, कुत्सित एवं दूषित वस्त्र में रख लिया गया हो, नाभि से नीचे रखा गया हो, दुष्ट जनों से छू लिया गया हो, मेघ की वर्षा से गल गया हो और कीड़ों से मारा हुआ हो ऐसे पुष्प को विद्वान् लोगों ने भगवान की पूजा के लिये त्याज्य कहा है। उल्लिखित दोषों से रहित पुष्प ग्राह्य है।

प्रश्न—पुष्प वर्णन के श्लोको में कीटक पदकी एवज में कंटक पद कहा है सो कैसे है ?

उत्तर—शास्त्रों में कीटक पद ही बताया है न कि कंटक। क्योंकि पुष्प मात्र जो भी होते हैं सो सब जीव सहित ही माने हैं। यातें पुष्प की किरणिका या पांखुड़ी या बीच में अनेक प्रकार के जीव त्रस कायिक के हुआ ही करते हैं क्योंकि ऐसा कई शास्त्रों में पूर्वाचार्यों ने बतलाया है। याते कीटक सहित पुष्प धोने पोछने में जीवों का घात हो वे ही जब वह मृतक सहित हों तो स्पर्श योग्य नहीं, यातें कीटक कर ही त्याज्य है। कदाचित् कंटक कर छिदे होय सो भी अग्राह्य है। सो भी त्याज है। ऐसा भाव जानना।

प्रश्न—कांटे सहित वृक्ष के पुष्पनिका निषेध करो होसो योग्य नहीं, क्योंकि कमल केवड़ा केतकी आदि कंटक वृक्षनि के पुष्प ही पूजा के स्थलों में लिखे हैं सो कैसे ?

उत्तर—जिन में जन्तु घात हो जावे तथा जो जन्तुओं कर छिदे हो, अथवा कंटक करि छिदे होय तथा अमनोज्ञ गंध युक्त होय सो

भगवान के चढ़ाने योग पुष्प नहीं होय हैं।

प्रश्न—कई पुरुष पुष्पों को श्री भज्जिनेन्द्र देव के चरण कमलों पर चढ़ाते हैं सो योग है या अयोग्य है ?

उत्तर—श्रावक की पाचवीं प्रतिमा सचित्त-त्याग होय है। इसके पीछे उत्तरोत्तर शुद्धता चारित्र की विशेष होय है। मुनि अवस्था में तो सचित्त का सम्बन्ध ही नहीं रहा। स्पर्श भी नहीं रहा, और यह प्रतिमा है सो पञ्च परमेष्ठी की है। याते पुष्पों को चरणों के स्पर्श कराने योग्य भी नहीं है।

आगे भगवान के अतिशय में देव कृत पुष्प वृष्टि का वर्णन करते हैं—

"वृष्टिरसौ कुसुमानां तुष्टिकरी प्रमदानाम्।
दृष्टिततीरनुकृत्य स्रष्टुरपप्तदुपान्ते ॥ ३३ ॥
शीतलैर्वारिभिर्गाङ्गैरार्द्रिता कौसुमी वृष्टिः।
षट्पादैराकुलाऽपप्तत्पत्युरग्रे ततो मुदा ॥ ३५ ॥ [आदिपुराणपर्व २३]

अर्थ—वह पुष्पों की वर्षा स्त्रियों को अत्यन्त प्रसन्न करती हुई भगवन् के समीप भाग में पड़ रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानों नेत्रों की संतति ही पुष्पों का रूप धारण करके भगवान के समीप पड़ रही हो। ३३।

जो गंगा के शीतल जल से भीगी हुई है, जिस पर अनेक भ्रमर बैठे हुए हैं और जिस की सुगन्धि चारों ओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पों की वर्षा भगवान् के सामने पड़ रही थी। ३५।

प्रश्न—व्रत कथा कोष में श्रुत सागर मुनि लिखते हैं—

"तत्प्रश्नाच्छ्रेष्ठिपुत्रीति प्राह भद्रे शृणु ब्रुवे।
व्रतं ते दुर्लभं येनेहामुत्र प्राप्यते सुखम् ॥ १ ॥

शुक्लश्रावणमासस्य सप्तमी दिवसेऽर्हतां ।
स्नपनं पूजन कृत्वा भक्त्याष्टविधमुर्जितम् ॥ २ ॥
ध्रियतं मुकुट मूर्ध्नि रचितं कुसुमोत्करैः ।
कंठे श्रीवृषभेशस्य पुष्पमाला च ध्रियते ॥ ३ ॥ [व्रतकथाकोष]

अर्थ—सेठ की पुत्री के प्रश्न को सुनकर आर्यिका कहती भई। हे पुत्रि ! मैं तुम्हारे कल्याण के लिये व्रतों का उपदेश करती हूँ। उस व्रत के प्रभाव से इस लोक मे दुर्लभ सुख प्राप्त होता है। उसे तुम सुनो। श्रावण सुदि सप्तमी के दिन श्री जिनेद्र देव का अभिषेक और अष्ट प्रकार के द्रव्यों से पूजन करके वृषभ जिनेन्द्र के मस्तक पर नाना प्रकार के पुष्पों से बनाया हुआ, मुकुट तथा कंठ में पुष्पों की माला पहरानी चाहिये।

जब इस प्रकार का वर्णन शास्त्रों में मिलता है तब आप किस प्रकार और किस आधार पर प्रतिमाजी पर पुष्पों के चढाने का निषेध करते हो ?

उत्तर—इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है, फिर भी आप के समझ में नहीं आया तो और सुनिए। क्रियाकलाप नामा ग्रन्थ में जहा पर महाव्रतों के कथन में परिग्रह का सर्व प्रकार बाह्य अभ्यन्तर रूप से त्याग कहा है वहां इस प्रकार कहा है:—

"वो अप्पं, वा बहुं, वा अणुं, वा थूल, वा सचित्तं, वो अचित्तं, वा अमुत्थं, वा वहित्थ, वा अवीवालग्ग कोडि मित्त पिणेव सय असमण पाउग्ग परिग्गहं गिण्हिज्ज, णो अण्णेहिं असमण पाउग्गं परिग्गहं गेण्हाविज्ज णो अण्णे हिं असमण पाउग्ग परिग्गहं गिण्हिज्जत वि समणुमणुमणिज्ज तस्स भंते। [पाक्षिक प्रतिक्रमण पत्र १०१ पंक्ति १४ वीं]

इन ऊपर कहे हुए शब्दों से यह मालूम होता है कि जिन मुनियों के पास बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग भी परिग्रह होवे वे परिग्रह धारी हैं; उनके महाव्रत नहीं। जब उनके महाव्रत ही नहीं रहा तो वह पूज्य कैसे ? और यह प्रतिमा भी तो उन्हीं महा पुरुषों की है। तो इन प्रतिमाओं में भी किंचित् भी परिग्रह मिले तो वह प्रतिमा कदापि पूज्य नहीं हो सकती। प्रतिमा सर्वथा वीतराग की होती है, इस पर परिग्रह आभरणादि किस प्रकार रह सकते हैं। यदि ऐसा ही मान लिया जावे अर्थात् परिग्रह सहित प्रतिमा भी पूज्य समझी जावे तो

श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय में क्या अन्तर रह जायगा। इस विषय में आपने जितने भी प्रश्न किये हैं उन सब का उत्तर दिया जा चुका है। दिगम्बर सम्प्रदाय में परिग्रहधारी मूर्ति की पूज्यता किसी प्रकार संभव नहीं है। यह सब का निष्कर्ष है।

जिन प्रतिमा के केशर आदि के विलेपन के खण्डन में भी यही दलीलें समझना चाहिए। सारांश यह है कि किसी भी दलील से इस बात का समर्थन नहीं होता कि भगवान के केशर चर्चना और फूल चढाना चाहिए। वीतराग भगवान के शरीर पर केशर चढाने का अर्थ होता है प्रतिमा को रागोत्पादक बनाना, केशर एक बहुमूल्य चीज है उसको वीतराग के शरीर पर लीप देना इसका क्या प्रयोजन है ? भगवान की समवसरण स्थित प्रतिमा के क्या केशर की चर्चना होती थी। जो पूर्णतः वीतराग के उपासक हैं उन्हें भगवान की प्रतिमा के कदापि केशर नहीं लगाना चाहिए।

इसी तरह वास्तव में तो पुष्प वगैरह सचित पदार्थों का भी वीतराग भगवान की उपासना में उपयोग नहीं होना चाहिए। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में यद्यपि पुष्प वगैरह सचित्त पदार्थों द्वारा पूजा करने का उल्लेख मिलता है पर वह केवल उस विषय की परम्परा अथवा प्रचलन का समर्थन मात्र है। श्रावकाचार के ग्रन्थों में जो कहीं २ इसका विधान मिलता है वह भी पडोसी धर्मों के प्रभाव का द्योतक है। अथवा अहिंसा प्रधान वीतराग जैन धर्म में ऐसी चीजों का क्या महत्त्व है। पूजा में जहांतक हो सके सावद्य कर्म उत्पन्न न होने देना चाहिए। और जैन धर्म के मूल अहिंसाचार का पूरा २ खयाल रखना चाहिए। फिर भी इस विषय में कोई ऐसा आग्रह नहीं होना चाहिए, जो धर्म घात का कारण बन जाय। इन चीजों में ज्यादा उलझे रहने से मूल जैन धर्म की तरफ लोगों का ध्यान ही नहीं जाता। इन दलीलों का हमें भगवान को मिष्ठान्न आदि के चढाने के निषेध में उपयोग करना चाहिए। जब स्थापना निक्षेप से स्थापित भगवान हमारे लिए पूजनीय हैं चावल आदि में पुष्प, नैवेद्य आदि की स्थापना क्यों उचित नहीं है। पूजा की वस्तुओं से हमारा आग्रह न होकर पूजा के तात्पर्य की ओर अर्थात् हमारे भावों की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। इसी में हमारा भला है। जलादिक अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा करते हुए सर्वदा यह विवेक रखने की जरूरत है कि हमारे इस काम में हिंसा तो नहीं होरही है और सरागता को प्रोत्साहन तो नहीं मिलरहा है।

नैवेद्य पूजन विधान

"देवोऽमिन्द्रियबलं प्रलयं करोति ।
नैवेद्यमिन्द्रियबलप्रदखाद्यमेतत् ॥

सं. प्र.

चित्रं तथापि पुरतः स्थितमर्हतोऽस्य।
शोभां बिभर्ति जगतो नयनोत्सवाय" ॥ ५ ॥

अर्थ— यह श्री जिनेन्द्र देव तो समस्त इन्द्रियों के बल को नष्ट कर रहे हैं और यह नवेद्य इन्द्रिय बल को चढ़ावे हैं। और खाने योग्य है। फिर भी अरहन्त भगवान के सामने चढ़ाया हुआ यह नैवेद्य समस्त जगत के नेत्रों को उत्सव के लिये शोभा को धारण करे हैं।

आचमन का निषेध

प्रश्न—शास्त्रों में भगवान् जिनेन्द्र देव के वास्ते आचमन कराना लिखा है सो जिनमत में मान्य है या नहीं ?

उत्तर—कौनसा शास्त्र यह बतलाता है ?

प्रश्नकर्ता—त्रिवर्णाचार में ऐसा लिखा है उस का पद्य निम्न लिखित है।

ॐ ह्रीं भ्रीं च्वीं वं मं हं सं तं पं द्रां द्रीं द्रां द्रीं हंसः स्वाहा ॥ ५४ ॥ [त्रिवर्णाचार अध्या० ५]

अर्थ—इसके बाद पाद्य विधि कर जल से जिनेन्द्र देव को आचमन करावे।

उत्तर—इसी प्रकार का इसी भाव को लिये हुए एक श्लोक वैष्णव सम्प्रदाय के कुवलिया ग्रन्थ में है।

"ततः मोक्तु विधिं कृत्वा जलैराचमयेत्प्रभुम्"

इस प्रकार का कथन जिनमत में नहीं है। कारण कि भगवान् तो वीतराग हैं न कि सराग। तब उनके मुख में पानी से आचमन कराना कैसे बनेगा ? अतः यह कथन वैष्णव सम्प्रदाय का समझना चाहिये। उसी को थोड़ा फेर फार कर त्रिवर्णाचार में लिख दिया है। इस को जिन मत में मान्य नहीं समझना चाहिये।

दीप से पूजन का विधान

"ततो रत्नदीपैर्जिनांगद्युतीनां ।
प्रसर्पेण मन्दीकृतात्मप्रकाशैः ॥
जिनार्क शची प्रार्चिचद्भक्तिनिघ्ना ।
न भक्ता हि युक्तं विदन्त्यप्ययुक्तं ॥ ६ ॥

अर्थ—आदि पुराण में इन्द्राणी है सो रत्नों के दीपक को लेकर श्री जिनेन्द्रनामा सूर्य की पूजा करती भई। कैसा है जिन सूर्य जिसने अपनी आत्मद्युति से उन रत्नों के दीपकों की कान्ति को मन्द करदी है।

क्या आरती करना योग्य है ।

प्रश्न—केशर पुष्प नैवेद्य आदि के विषय में अपने जो कुछ कहा था वह तो बिल कुल ठीक है। किन्तु अब यह बतलाइये कि आरती के विषय में जैन शास्त्रों का क्या अभिमत है।

उत्तर—आरती करना जैन सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। आरती का समय तो सामायिक का समय है। आरती के लिए रात को दीपक जलाना पड़ता है जो किसी भी तरह उचित नहीं है। सामायिक के समय को टालकर उसको आरती के काम में लगाना शास्त्र से कभी सिद्ध नहीं होता। आरती के विषय मे शास्त्रों में कहागया है।

कहा भी है—

"दीप प्रकाशे प्रपतन्ति जीवाः
आरार्तिकं दीप मृते न भावि ।
तज्जीवघातान्नरकप्रसूति,—
रारार्तिकं नैव ततो विधेयम् ॥ १ ॥
दीपप्रकाशव्यसना हि शलभाः,
दीपे पतन्तो विरमन्ति नैव ।

तज्जीवघातान्नरके प्रयान्ति,
आरार्तिकं नैव दयालुध्येयम् ॥ २ ॥"

अर्थ—नियम से दीपक शिखा पर मच्छर और पतङ्ग आदि चतुरिन्द्रिय जीवों का घात होता है। मच्छर आदि प्रकाश के व्यसनी जीव हैं वे आने से कभी नहीं रुकते। और जीव घात से प्राणी नियम से नरक को जाते हैं। आरती बिना दीप के नहीं बनती। अतः आरती करना कभी विज्ञ तथा दयालु पुरुषों का ध्येय नहीं हो सकता? यदि यह कहा जाय कि आरती में जो जीव घात होता है वह धर्म के लिए होता है, इसलिए ऐसे जीव घात से बचने की जरूरत नहीं है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि:—

"देवधर्मतपस्विनां कार्ये महति सत्यपि।
जीवघातो न कर्तव्यः श्वभ्रपातकहेतुमान् ॥ १ ॥"

अर्थ—देव, धर्म, और गुरुओं के निमित्त भी महान् से महान् भी कार्य पड़ने पर जीव घात नहीं करना चाहिये। क्योंकि जीव घात नरक में लेजाने का कारण है। जो इसकी परवाह नहीं करते वे जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी आंखों से रहित हैं।

कहा भी है:—

"न देवं नादेवं न शुभंगुरुमेन न कुगुरुं,
न धर्मं नाधर्मं न गुणपरिणद्धं न विगुणम्।
न कृत्यं नाकृत्यं न हितमहितं नापि निपुणम्।
विलोकन्ते लोकाः जिनवचनचक्षुर्विरहिताः ॥ १७ ॥ [सूक्ति मुक्तावली]

अर्थ—जो प्राणी जिनेन्द्रदेव के वचन रूपी चक्षुओं से रहित हैं, सो न देवों को देखते हैं, न अदेवों; न श्रेष्ठ गुरुको देखते हैं, न कुगुरु को देखते हैं; न धर्म को देखते हैं, न अधर्म को देखते हैं; न गुणी को देखते हैं, न अगुणी को देखते हैं; तथा करने योग्य और न करने योग्य एवं अपने हित तथा अहित को भी नहीं देखते हैं। उन्होंने तो जो हठ पकडली है, वह ही करते हैं। उन के पक्ष भरा रहता है, वे यह नहीं विचार पाते कि यह पुण्य का कार्य है, यह पाप का कार्य है। इस प्रकार पक्ष पकड़ कर कार्य करना, अपना हित एवं अहित नहीं विचारना

पाप का कारण एवं नरक में ले जाने वाला विज्ञ पुरुषों ने कहा है। चाहे आरती हो और चाहे दूसरा काम; यदि उससे हिंसा होती है तो उसी वक्त छोड देने योग्य है। कहा भी है:—

"स्नाने दाने जपे यज्ञे, स्वाध्याये नित्यकर्मणि ।
न कुर्यात्सुजनो हिंसां प्रमादं परितस्त्यजन् ॥ १ ॥"

अर्थ—गृहस्थ के जो नित्य करने के षट् कर्म माने हैं उनको सदा सावधान होकर करना चाहिये। किन्तु उनमें कभी प्रमाद जन्य हिंसा नहीं करना चाहिये।

तात्पर्य—नित्य षट् कार्य जो गृहस्थों के बताये हैं उनको भी अहिंसा पूर्वक कियाजाय तो पुण्य का आस्रव होगा अन्यथा अर्थात् हिंसा करने से उल्टा पापका आस्रव होगा। और उसका फल दुःख रूप नरक निगोदादि पर्यायों मे भुगतना पड़ेगा। अतः प्रमादजन्य हिंसा से सदा सावधान रहना चाहिये। सदा दया रूप परिणाम कर पुण्योपार्जन करना चाहिये।

पहले यह बताया था कि आरती का समय दिव्यध्वनि का समय है सो इसको सिद्ध करने के लिए निम्न लिखित दो गाथाएँ लिखी जाती हैं:—

तित्थयरस्स तिसज्झे णाहस्सा सुज्झिमाए रत्तिए ।
बारह सहासु मज्झे छग्घडिया दिव्वझुणी कालो ॥ [अङ्गपण्णत्ति]
पुव्वह्णे मज्झह्णे अवरह्णे मज्झिमाय रत्तीए ।
छच्छग्घडिया णिग्गाय दिव्वझुणी कहई सुत्तत्थे ॥ [समवसरण स्तोत्र त्तेपक]

अर्थात्—पूर्वाह्न, मध्याह्न अपराह्न और मध्य रात्रिको इस प्रकार चार समय भगवान की दिव्यध्वनि छः छः घडी पर्यन्त बारह सभाके मध्य खिरती है। इस विषय में यहां और भी खोलकर समझाया जाता है:—

उक्त गाथायें इस बात को सूचित करती हैं कि जब सूर्योदय से तीन घड़ी रात्रि शेष रहे तब से छह घड़ी तक अर्थात् सूर्योदय से तीन घड़ी उपरान्त तक किसी प्रकार का आरंभ न करे। आत्म कल्याण के लिये सामायिक ही करना चाहिये। क्योंकि उस समय गृहस्थ लोगों

का या यति लोगों का भगवान की दिव्य ध्वनि सुनने जाना ही मनुष्य पर्याय का प्राथमिक कर्तव्य है। परन्तु क्या किया जावे यह पंचम काल का कराल समय है। हुण्डावसर्पिणी काल का दोष है। इसमें नहीं होने योग्य जो कार्य हैं सो भी हो जाते हैं। जैसे तीर्थङ्करों के पुत्रियों का होना, तीर्थङ्करों के ऊपर उपसर्ग का होना, तीर्थङ्करों का अपवाद होना, एवं चक्रवर्तियों का मान भंग होना, जैन धर्म मे कई प्रकार से संघ भेद होना, आदि। यह भी पंचम काल काही दोष समझिए कि आरती में हिंसा होने पर भी उसका समर्थन किया जाता है। आरती करने में प्रत्यक्ष उड़ने वाले चार इन्द्रिय जीव आकर गिरही जाते जाते हैं। गृहस्थ त्रस हिंसा के तो पूर्ण त्यागी है और स्थावर हिंसा का भी जहां तक हो त्याग करते हैं। आरंभ के त्यागी न होने से हिंसा हो भी जावे तो जानकर नहीं करते हैं। गृहस्थों को चलने के लिये भी देख भाल कर चलना ही जैनाचार्यों का मन्तव्य है। तो आरती में प्रत्यक्ष कितने ही जीव विराधे जाते हैं। तो वह हिंसा जैन धर्मानुयायी किस प्रकार से कर सकेगा। क्योंकि जहां हिंसा है, वहाँ धर्म नहीं है, ऐसा जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य है। शास्त्रों में लिखा है:—

"धम्मो वत्थुसहावो खमादि भावो य दहविहो धम्मो।
चारित्त खलु धम्मो जीवाण य रक्खणो धम्मो॥" [षट् प्राभृत टीका पा० २१५]

अर्थ—इस ऊपर की गाथा मे धर्म के चार लक्षण बतलाये हैं। धर्म का प्रथम लक्षण वस्तु का स्वभाव धर्म है, ऐसा किया है। धर्म का द्वितीय लक्षण क्षमादिक दश प्रकार का कहा है। तृतीय लक्षण आत्मीक आचरण अर्थात् चारित्र रूप है। चतुर्थ लक्षण जीव दया बताया है। अतः जहा पर दया नहीं है, वहां धर्म भी नहीं है। भाव यह है कि जहां पर दीपक जलेगा वहा पर नियम से जीव घात अवश्य होगा। अतः आरती में ऐसी क्या भक्ति है जिस से जीव घात होने पर भी वह करना ही पडे। आरती का विधान जैन शास्त्र सम्मत नहीं है। अन्य सम्प्रदाय जो जैनों से भिन्न हैं उनका कथन है। जैन धर्म का तो यह सिद्धान्त है कि प्राण चले जावे तो भी जीव हिंसा मत करो। इसके साक्षी में विद्यानन्दी स्वामी के पात्र केशरीस्तोत्र का ३७ वां पद्य पीछे दिया जा चुका है। उसमें लिखा है कि भगवान पूजन तक का जीव-विराधना के कारण उपदेश नहीं देते। परन्तु उनके भक्तजन जो परोक्ष ज्ञानी थे सावधानी सहित पूजन करना बतलाते हैं।

सामायिक का काल

जो पहले गाथाओं में दिव्यध्वनि का समय ६ घडी बतलाया है वह इस प्रकार कहा है:—

१ पूर्वाह्न काल—तीन घड़ी रात्रि बाकी रहे तब से ३ तीन घड़ी दिन चढे तक को पूर्वाह्न काल कहते हैं।

२ मध्याह्न काल—मध्याह्न काल में तीन घड़ी बाकी रहे तब से तीन घड़ी उपरान्त तक मध्याह्न काल कहलाता है—जैसे १०॥ से

लेकर १। सवाबजे तक २॥ घन्टे।

३ अपराह्नकाल—जब सूर्य अस्त होने में तीन घड़ी बाकी रहे तब से सूर्यास्त के तीन घड़ी बाद तक के समय को अपराह्नकाल कहते हैं।

४ चतुर्थकाल—जब रात्रि के मध्य के समय में तीन घड़ी शेष रहे तब से लेकर अर्ध रात्रि के बाद तक के काल को चतुर्थ काल कहते हैं।

यह समय बड़ा कीमती है। इसका अच्छा से अच्छा उपयोग करना चाहिए। जो चार ज्ञान धारी मुनि लोग समवसरण में होते हैं, उनको तो दिव्य-ध्वनि श्रवण करने को मिलती ही है। परन्तु जब वे समवसरण में नहीं होते तब वे आत्मीक चिन्तन रूप सामायिक करते हैं। हे भव्य पुरुषो ! तुम भी तो उनके ही अनुयायी हो ! फिर ऐसे अमूल्य समय को नगारा, झांझके बजाने में या व्यर्थ में क्यों व्यय करते हो। पक्षपात में कोई सार नहीं है।

प्रश्न—श्री पद्मनंदी आचार्य ने तो अपने ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि "प्रातः काल उठकर गृहस्थ को प्रथम जिन पूजा करनी चाहिये" तो पूजा करने में भी हिंसा होती है ? आरती करने में ही क्या दोष होगया ? इसके अतिरिक्त गृहस्थ लोग तो जिन मन्दिरादिक भी बनवाते हैं। उसमें भी हिंसा होती है फिर इनका विधान क्यों है ?

उत्तर—शास्त्रकारों ने हिंसा के दो भेद माने हैं। निवार्य और अनिवार्य। जो निवार्य हिंसा करते हैं उनको सिद्धान्तों में पापी कहा है। किन्तु अनिवार्य हिंसा गृहस्थी से त्याज्य नहीं होती। मन्दिरजी बनवाना, पूजन करना, अयोग्य होता तो आचार्य इसका उपदेश न देते-किन्तु इसका उपदेश तो स्थान २ पर मिलता है। आरती में होनेवाली हिंसा तो निवार्य हिंसा है। धर्मस्थान में ऐसी हिंसा होना उचित नहीं है। शास्त्र मे कहा है:—

"अन्यस्थाने कृतं पापं धर्मस्थाने विनश्यति।
धर्मस्थाने कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥ १ ॥"

अर्थ—अन्य स्थान मे किया गया पाप मन्दिर आदि धार्मिक स्थानों पर कट जाता है। किन्तु धर्म स्थान में किया हुआ पाप वज्र लेप हो जाता है। अपने यहां इस मन्दिर को नव देवताओं में माना है। इस कारण देवों के समक्ष अथवा देव स्थान में किया हुआ पाप

वज्र लेप के समान हो जाता है। अतः गृहस्थों को सावधानी से मन्दिर बनवाना पूजन आदि भक्ति करनी चाहिये। आरती आदि हिंसा जनक कार्य नहीं करने चाहिये।

धूप पूजन का विधान

चन्दनागुरुकर्पूरसद्द्रव्यादिं दहन्ति ये।
जिनाग्रे कर्मकाष्ठानां भस्मीभावं श्रयन्ति ते ॥ २०२ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अ, २०]

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान् के सामने चन्दन, अगुरु, कपूर, आदि सुगन्ध द्रव्यों की धूप बना कर दहन करते हैं वे कर्म रूपी इन्धन को भस्म कर डालते हैं।

और भी कहा है—

दुष्टाष्टकर्मेन्धनपुष्टजालसंधूपने भासुरधूमकेतून्।
धूपैर्विधूतान्यसुगन्धगन्धै जिनेन्द्रसिद्धान्तयतीन्यजेऽहम् ॥ ७ ॥ [पद्मनन्दी]

अर्थ—दुष्ट अष्ट कर्म रूप पुष्ट समुदायित इन्धन को जलाने के लिये दीप्त अग्नि के समान जिनेन्द्र–सिद्धान्त और गुरुओं को अन्य गन्धों को तिरस्कृत करने वाली धूप से पूजता हूँ।

फल पूजन—

"उच्चैः फलाय परमामृतसंज्ञकाय, नानाफलैर्जिनपतिं परिपूजयामि।
त्वद्भक्तिरेव सकलानि फलानि दत्त, मोहेन तत्तदपि याचत एव लोकः ॥ ८ ॥ [पद्मनन्दी]

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! परमामृत है नाम जिनका ऐसे उच्च फलों को लेकर उच्च पद वास्ते हम आपको पूजे हैं। हे भगवन् ! तुम्हारी भक्ति ही सकल निर्दोष फल को देती है। तो भी लोक मोहकर फल जाचे ही है। इस प्रकार अष्ट द्रव्यों से पूजन का विधान शास्त्रों में कहा है।

रात्रि को द्रव्य पूजन का निषेध

प्रश्न—आदिनाथ पुराण में भगवान का तीनों समय पूजन करना कहा है। सो कैसे, आप तो रात्रि पूजन निषेध करते हो।

उत्तर—रात्रि मे द्रव्य तथा दीपक आदि द्वारा पूजन करने का निषेध करते है, मुखामस्तुतिपाठ आदि करने का निषेध नहीं करते हैं। दीपक जलाकर आरती रात्रि में नहीं करना चाहिये, तथा रात्रि को द्रव्य द्वारा भी पूजन नहीं करना चाहिये, कारण कि इससे हिंसा होती है।

शरद् ऋतु व दीपमालिका उत्सव

प्रश्न—शरत्पूर्णिमा तथा दीप मालिका उत्सव मन्दिरमे करना चाहिये या नही ?

उत्तर—शरद् ऋतु का उत्सव राजा लोगों के योग्य है न कि वीतरागियों के मन्दिरों के योग्य। प्रथमानुयोग तथा चरणानुयोग के ग्रन्थों में कहीं भी इसकी आज्ञा नहीं है, तथा दीपमालिका के उत्सव करने का विधान भी मन्दिरों के लिये नहीं देखा जाता है अत. उन्मार्ग ही है।

प्रश्न—आप दीपमालिका के उत्सव को उन्मार्ग कहते हैं। और ग्रन्थो मे तो ऐसा आता है कि वीर भगवान के निर्वाण होने पर दीप मालिका उत्सव देवों ने किया था। उसी दिन से यह वरावर चला आता है।

उत्तर—हम दीपावली मनाना उन्मार्ग नहीं कहते यह तो जैन पर्व है। इस दिन भगवान की पूजा करना चाहिए। उपवास शक्ति के अनुसार करना चाहिए, क्योंकि भगवान महावीर स्वामी इस दिन मोक्ष गये है। पर केवल दीपक जलाना ही दीपमालिका नहीं है। जिस समय महावीर मोक्ष पधारे थे उस समय अरुणोदय था। जब भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष पधार गये उसके बाद देवों ने जैसे अन्य तेईस तीर्थंकरों का मोक्ष कल्याणक किया उसी प्रकार इन का भी किया। ऐसा अवश्य है। कि वीर निर्वाण के बाद, देवों ने निर्वाण कल्याण की पूजन प्रभावना की। सो गृहस्थों का धर्म है, तदनुकूल गृहस्थ अब भी करते ही हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो उस दिन दीपक क्यों जलाये जाते हैं ?

उत्तर—वैष्णव सम्प्रदाय के शास्त्रों मे कार्तिक वदी अमावस्या के दिन रात्रि के १२ बजे से (अर्ध रात्रि) के समय लक्ष्मी का आगमन नगर में होता है, ऐसा लिखा है। इस कारण लोग घर को लीपते हैं, झाड़ू निकालते हैं, दीपक जलाते हैं, उज्ज्वल वस्त्र पहनते हैं, उत्तम भोजन करते हैं और धन, रुपया, पैसा, चान्दी, सोना, मोहरों को पूजन करते हैं, नमस्कार करते हैं। गोपाल सहस्रनाम का जाप करते हैं। उनकी देखा देखी जैनियों में रूढ़ि चलपड़ी है। वास्तव में दीपमालिका का त्योहार जैनों का है इसका विकृत रूप बनाकर दूसरों ने इस का मानना शुरू कर दिया और जैनों ने भी इसका अनु सरण किया। जैन धर्म तो जीव को पाप से बचाने वाला है। और यह दीपक आदि जलाना कर्म बन्ध का कारण है। सो छोड़ने योग्य है।

कहा भी है—

"धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्व परिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं॥ २५॥ [बोध पाहुड]

अर्थ—जो दया विशुद्ध है सो ही धर्म है। जहां सर्व परिग्रह का त्याग है वही सच्ची दीक्षा है, जिसका रागद्वेप नष्ट हो गया है वही देव है। ऐसा ही देव भव्य जीवों के उदय का कारण है।

प्रश्न—समवसरण में भगवान की पूजा में दीपक जलाया गया होगा तभी तो शास्त्रों में दीपक का कथन आया है?

उत्तर—देव लोग भगवान की पूजन करते थे तब दीपाग जाति के कल्प वृक्षों के फलों से और पुष्पों से पूजन करते थे सो वह पदार्थ जड़ पृथ्वी काय है। सो उनका उजियाला दीपक जैसा ही होता था, दीपक नहीं जलाते थे।

"देखा देखी साधे जोग छीजे काया बाढे रोग"

इस कहावत के अनुसार संसारी जीव दीपक जलाकर अहिंसक जैन धर्म में भी हिंसा द्वारा पापबन्ध करते हैं।

पूजा के पश्चात् शान्ति पाठ का विधान कब से है।

प्रश्न—अष्ट द्रव्य से जब हम पूजन कर चुकते हैं तो उसके पश्चात् शान्ति पाठ किया जाता है, वह शान्तिनाथ स्वामी का स्मरण है। तो क्या जब शान्तिनाथ स्वामी अवतरित नहीं हुए थे तब शान्तिपाठ नहीं होता था?

उत्तर—जिस प्रकार का पूजन पाठ का विधान आज कल है, वैसा पहले नहीं था।

प्रश्न—तो पहले जमाने में क्या होता था?

उत्तर—पहले जमाने में लोगों को जिनेन्द्र भगवान पर पूर्ण श्रद्धा थी। वैसी श्रद्धा इस समय नहीं रही। जिससे यह बात कही जाती है कि पहले जमाने में श्रावक लोग भगवान के गुण गान से ही महान् विशेष पुण्य का लाभ समझते थे।

कहा भी है—

"अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १ ॥
अपवित्रः पवित्रोवा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं सबाह्याभ्यन्तरशुचिः ॥ २ ॥
अपराजितमन्त्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनं।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतं ॥ ३ ॥
एसो पंचणमोयारो सव्वपापपणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलम् ॥ ४ ॥"

अर्थ—पवित्र हो, अथवा अपवित्र हो, सुख रूप हो वा दुःख रूप हो, जो कोई पंच नमस्कार पद को ध्याता है, वह सब पापों से छूट जाता है।

शरीर पवित्र हो वा अपवित्र हो, लेटा हो, खड़ा हो, बैठा हो, चलता हो, खाता हो, पीता हो, अर्थात् किसी अवस्था में हो, जो कोई परमात्मा का ध्यान करता है, वह बाह्य और अभ्यन्तर सब प्रकार से पवित्र ही है।

यह नौकार मन्त्र ऐसा मन्त्र है कि किसी मन्त्रादिक से नहीं जीता जा सकता और यह मन्त्र सब प्रकार के विघ्न का नाश करने वाला है। सर्व कार्यों में यह उत्कृष्ट मंगल रूप है।

आगे और भी बताते हैं—जैसे—

"विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगाः ।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥ १ ॥"

अर्थ—जिनेश्वर के गुणानुवाद के गाने से सर्व विघ्नों के समूह नाश को प्राप्त हो जाते हैं और विष दूर हो जाता है।

इस प्रकार की गाढ़ श्रद्धा पहले थी। शांतिपाठ शांति के लिये किया जाता था। किसी कवि ने शांतिनाथ स्वामी की स्तुति के रूप में उस की रचना करदी। उसके करने में किसी प्रकार की हानि नहीं है। शान्तिपाठ करना अच्छा ही है।

प्रश्न—पूजन करने के बाद जो विसर्जन किया जाता है सो ठीक है ? या नहीं ?

उत्तर—विसर्जन करने की प्रथा पूजन समाप्ति की सूचना रूप है, वह करना ही चाहिए।

प्रश्न—यह तो ठीक, किन्तु जो विसर्जन पाठ में आज कल ऐसा बोला जाता है:—

"आहूता ये पुरा देवा लब्धभागाः यथाक्रमं ।
ते मयाऽभ्यर्चिताः भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥ १ ॥"

अर्थ—हे देव ! मैंने पूजन के प्रारंभ में आप को बुलाया अर्थात् आह्वान किया, अब मैं पूजन कर चुका, पूजन में जो आपका भाग था उस को लेकर अपने स्थान पर पधारें।

यह कहना एवं करना ठीक है ? या नहीं ?

उत्तर—यह श्लोक मूल संघ आम्नायका नहीं है। यह तो भट्टारकों का है। वे लोग जब अभिषेक या पूजन करते हैं, तब प्रथम ही दश दिक्पाल आदि का आह्वान करते हैं। एवं उनका फिर इस श्लोक से विसर्जन करते हैं। मूल संघ में तो केवल पूजन की समाप्ति का सूचन ही विसर्जन है। भट्टारक लोग अपने मन्दिरों में क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि देवताओं की स्थापना भी करते हैं। इस श्लोक को बोल कर पूजन समाप्ति करना भी ठीक नहीं है। ऐसा करने से देवाधिदेवों का अनादर समझा जाता है। क्योंकि जब अपने द्वार पर कोई पूज्य पुरुष

आने तो हर्ष होता है। उससे ऐसा कोई पुरुष नहीं कहता कि अब चले जाइये। ऐसा कहने से आनेवाले को दुःख होता है। ऐसी रीति संसार में भी प्रचलित नहीं है। मोक्ष मार्ग मे ऐसी रीति चलानी सिद्धान्त से विरुद्ध है। अतः इस श्लोक का विसर्जन में उपयोग करना समुचित नहीं है। ऐसा कहना तथा करना अर्थात् उल्लिखित पद्य बोल कर श्री जिनेन्द्र देव का विसर्जन करना पाप बन्ध का कारण है। अतः ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये।

चमर—चमरीगाय के बालों का निषेध

जैन समाज अपने जैन धर्म को अन्य धर्मों से उच्च समझता है सो उसके उच्चता कारण एक मात्र अहिंसा है। "जैन धर्म अहिंसा की मूर्ति है। जैन लोग हृदय मे भी कभी हिंसा के भाव नहीं लाते और न धर्म हिंसा रूप पदार्थों का समागम ही मिलाते हैं। जैनाचार्यों का श्रावक के लिये पानी भी छानने का उपदेश है। सो भी दोहरे छन्ने से छानने का है। क्योंकि पानी में छोटे २ चलते फिरते त्रस कायिक जीव रहते ही हैं। इस कारण अहिंसा के पालक जैन खाने पीने आदि के कार्य में छान कर ही जल काम में लेने का प्रयत्न करते हैं एवं अनिवार्य रूप से छना पानी ही लेना समुचित समझते हैं। जैन लोग, घर में एकेन्द्रिय जीवों पर भी दया करते हैं। प्रमाद से सावधान रह कर सदा अहिंसा पालन करने में तत्पर रहते हैं। तो फिर जैन ऐसे धार्मिक हो कर, धर्म स्थान मन्दिर आदि में किस प्रकार हिंसा करेंगे। अर्थात् कदापि नहीं करेंगे। और न हिंसोत्पादक वस्तुओं का धर्म स्थान अथवा अपने घर पर भी किस प्रकार उपयोग करेंगे ? अर्थात् कदापि नहीं कर सकते। इसलिए चमरी गाय के बालों से बने हुए चमर का उपयोग नहीं करना चाहिये। मन्दिरों में तथा घर में भी इसका उपयोग हन ठीक नहीं है। कहा भी है—

"चर्मास्थिमांसैः परिपूरिताः ये, धेनोश्चमर्याः खलुपुच्छकेशाः।
सुधार्मिकैः प्राज्ञजनैः कदापि, ग्राह्या न ते ध निकेतनेषु ॥ २ ॥"

अर्थ—चमरी गाय के बालों का जो चमर बनाया जाता है वह धर्मात्मा विद्वानों को धर्म स्थान में ग्रहण करने योग्य नहीं है। क्योंकि उस चमर के वास्ते गाय की पूछ काटी जाती है। उस पुच्छ से उनको इतना प्रेम है कि जब पूछ कट जाती है तब वह गाय वहां ही खड़ी रह जाती है। पश्चात वहां पर कोई हिंसक जीव आता है, तो उस गाय को मार कर खा जाता है। उस पूंछ में चमड़ी, हड्डी, मांस, रुधिर, और केश कोई भी वस्तु स्पर्श के योग्य नहीं देखो जाती है। उन चमरी गाय के बालों के चमर को श्री जिनेन्द्र देव के ऊपर ढोरावे यह जैन धर्म की अहिंसा के विरुद्ध है। श्री जिनेन्द्र देव को जब श्रावक स्पर्श करता है, तो शुद्ध होकर स्नान करने के बाद करता है, तो विचारने

की बात है कि ऐसे अपवित्र घृणास्पद हिंसा से उत्पन्न उस चमर को अहिंसा का पूर्ण उपासक श्रावक श्री देवाधिदेव परमवीतराग के प्रतिबिम्ब के ऊपर कैसे ढोल सकता है। अतः मूल सघाम्नाय वाले श्रावक लोग चमर गाय के बालों को नहीं ढोलते। बल्कि शुद्ध गोटे का तथा चांदी के तारों का बनवाकर जिन मन्दिरों मे काम में लाते हैं जिनके स्पर्श करने में शुद्धता और लौकिक,उज्जलता और श्रावक धर्म की पूर्ण रूप से प्रशस्तता बनी रहती है। (भावार्थ) चमरी गाय की पूँछ के बालों के चमर बनता है और चमरी गाय को अपनी पूंछ से इतना प्रेम होता है कि वह उस पूंछ के प्रेम से प्राणतक देदेती है। जिस समय जंगल में घूमती रहती है उसी समय पूंछ के इच्छुक पार्वतीय अथवा भील आदि वृक्षों पर शस्त्र लेकर बैठ जाते हैं। जिस वृक्ष के आस पास से वह निकलती है उसी समय निशाने से ऐसा शस्त्र फैंकते हैं कि उस की पूंछ के दो विभाग हो जाते है पूँछ कटने के बाद वह उसी जगह उसके प्रेम से एवं पीडा से खड़ी हो जाती है। वहां से नहीं चलती, फिर उसे यातो वेही लोग मारडालते हैं अथवा बनेले पशु सिंह आदि क्रूर जीव मार लेते हैं। जो चमर एक पचेन्द्री जीव की हिंसा के बिना उपलब्ध नहीं होता उसको अहिंसा प्रेमी जैन बंधुओको मन्दिर मे ले जाना एवं भगवान की सेवा में उपयुक्त करना सर्वथा अयोग्य है ?

प्रश्न—यदि ऐसा ही है तो कच्चे चमड़े से मढ़े हुई सारंगी तबले आदि वादित्र मन्दिरजी मे क्यों ले जाये जाते हैं ?

उत्तर—चमड़े से मंढे हुए वादित्र अपवित्र ही हैं। अतएव वे श्री जी से दूर रहते हैं।

प्रश्न—मुनि महाराज मयूर-पिच्छ को अपने समीप क्यों रखते हैं वह भी एक जीव के शरीर का अवयव ही है ?

उत्तर—वह मयूर के शरीर का अवयव अवश्य है, किन्तु उसकी हिंसा के द्वारा उपलब्धि नहीं होती है। मयूर स्वयं आसोज अथवा कार्तिक मास में अपने पंख छोड़ देते हैं। मयूर पिच्छ अत्यन्त कोमल और प्राणियों की हिंसा के बिना ही प्राप्त होने के कारण जीव-रक्षा के लिये पास मे रखते हैं।

प्रश्न—चामुण्डराय कृत चारित्रसार में तो गाय के शिरोभाग से निकले हुए गोरोचन तथा हिरण के नाभि से निकलने वाली कस्तूरी तक को भी गृहस्थों को कार्य में लाने योग्य बतलाया है जब कि ये दोनों चीजें भी प्राणी की हिंसा के बिना नहीं प्राप्त हो सकती तो इन का विधान क्यों किया ?

उत्तर—क्रिया दो प्रकार की होता है:-एक लौकिक और दूसरोपारलौकिक। लौकिक क्रिया मोक्ष मार्ग में बाधा डालने वाली होती है अत: वह लौकिक क्रिया का कथन है। जिनेन्द्र का मार्ग मोक्ष के अभिमुख करने वाला है अतः मोक्षाभिलाषियों को यह भी अग्राह्य है।

इष्टोपदेश मे छत्तीसवें पद्य का प्रमाण इसमें साक्षी है।

यज्जीवस्योपकाराय तद् देहस्यापकारकं ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम ॥ १९ ॥ [इष्टोपदेश]

अथ—जो चीज जीव को उपकारक है वह शरीर की अपकारक है और जो शरीर का उपकारक है वह आत्मा का अपकारक है। अनेक पदार्थ लौकिक रीति से शुद्ध मान लिये गये हैं। किन्तु वे पदार्थ सर्वथा अशुद्ध समझने चाहिये।

इस कारण जैन मंदिर में चमरी गाय का चमर नहीं होना चाहिये। चांदी के तार एवं गोटे के चंवर ही ग्राह्य है। उत्तम पदार्थ से उत्तम भाव रहने से पुण्याश्रव भी होता है अतः मंदिर में उत्तम पवित्र पदार्थ ही लेजाने चाहिये।

जिन पूजन में चढ़ाये द्रव्य का विचार

प्रश्न—जिन भगवान के पूजन में चढ़ाये हुये निर्माल्य द्रव्य का क्या करना चाहिये ?

उत्तर—निर्माल्य द्रव्य अग्राह्य है। भट्टारक सकल कीर्ति ने लिखा है: -

देवशास्त्रगुरूणां भो ! निर्माल्यं स्वीकरोति यः।
वंशच्छेदं परिप्राप्य स पश्चात् दुर्गतिं व्रजेत् ॥ १ ॥ [सकलकीर्ति सुभाषितावली]

अर्थ—जो पुरुष देव, शास्त्र और गुरु के पूजन में चढ़े हुए निर्माल्य द्रव्य को ग्रहण करता है वह पुरुष प्रथम तो वंशच्छेद को प्राप्त करता है अर्थात् इस भव में वह वंशहीन हो जाता है और परभव में उसको खोटी गति मिलती है।

"प्रमादात् देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्याश्रवहेतवः ॥ ५६ ॥" [अमृतचंद्रकृत तत्वार्थसार]

अथ—प्रमाद के वश से जो देवता को प्रदत्त की हुई वस्तु को ग्रहण कर लेता है उसको अन्तराय कर्म का बन्ध होता है अर्थात् यह अन्तराय कर्म के आस्रवका कारण है।

"जिणुद्धारपदिट्ठा जिणपूजातित्थवंदणा विसेसधणं ।
जो भुंजई सो भुंजई जिणदिट्ठं णिरयगई दुःक्खं ।। ३२ ।। [भगवत्कुन्दकुंदकृतरयणसार]

अर्थ—जो प्राणी जीर्णोद्धार-जिनप्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थ वंदना के लिये दिये द्रव्य को खाता है उसको नरक गति के दुःख उठाने पड़ते हैं। अर्थात् जीर्णोद्धार-जिन प्रष्ठि जिन पूजा और तीर्थ वंदना आदिक धार्मिक कार्य के लिये संकल्पित किये द्रव्य का उपभोग करना घोर पाप है। और भी कहा है—

"अर्हतायाऽष्टधा पूजा केनचित् धीमताकृता ।
तामादत्तेऽत्रयो लुब्धो महाचोरः स कथ्यते ।। [मूलाचार प्रदीप अध्याय १]

अर्थ—जो पुरुष किसी बुद्धिमान पुरुष के द्वारा अष्ट द्रव्यों से की गई पूजा के द्रव्य को ग्रहण कर लेता है वह महा चोर है।

कहा भी है—

"देवार्चकश्च निर्माल्यभोक्ता जीवविनाशकः ।
इत्यादिदुष्टसंसर्गं संत्यजेत्पंक्तिभोजने ।। २५९ ।। [त्रिवर्णाचार अ० ६]

अर्थ—जो पुरुष देव पूजा के द्वारा उदर पूर्ति करता हो निर्माल्य का भोक्ता हो और जीवों का घातक हो उसको पंक्ति के भोजन में शामिल न करें, और उसका संसर्ग भी न करें।

और भी कहा है।

"पुत्तकलत्तविहीणो दारिद्दो पंगुमूकबहिरंधो ।
चाण्डालाइ कुजादो पूजादाणाईदव्वहरो ।। ३३ ।। [भगवत्कुन्दकुन्दकृतरयणसार]

अर्थ—जो पूजा एवं दानादि के द्रव्य को ले लेता है वह पुरुष पुत्र और स्त्री से रहित दरिद्री, पंगु, गूंगा, बहिरा, अंधा, होकर चाण्डालादि कुजातियों में उत्पन्न होता है।

निर्माल्य क्या है

जो द्रव्य मन्त्र पूर्वक भगवान को समर्पण किया जाता है वह निर्माल्य कहलाता है।

चढ़ाया हुआ द्रव्य दूसरों को देना चाहिए या नहीं

जो णय भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं।
भुत्तस्स भोजिदस्सहि णत्थि विसेसो तदो का वि ॥ २८० ॥ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अथ—जिस वस्तु को आप नहीं भखे तिस पदार्थ कूं अन्य को देना योग्यनाहीं, जातैं खाने वाला और खुवाने वाला में कुछ विशेषता नहीं है। श्रावक चढ़ाये हुए द्रव्य देने वाला मनुष्य तो–श्रावक ही बनारहे और खाने वाला व्यास हो जावे सो ऐसा होता नहीं। यहां तो दोनों एक समान हैं।

जो द्रव्य संकल्प पूर्वक मन्दिर खर्च के लिये भंडार में रखा जाता है उसे आनवेश कहते हैं। उसको भगवान के उपकरण जीर्णोद्धार आदि में व्यय किया जाता है। परिश्रम करके यह द्रव्य जो मजदूर आदि लेते हैं उनको निर्माल्य का दूषण नहीं आता है जो परिश्रम बिना द्रव्य लिया जाता है, उसमें दूषण है।

निर्माल्य द्रव्य का क्या किया जाय ?

प्रश्न—जो द्रव्य भगवान के पूजन में चढ़ाया जाता है जिसको आप निर्माल्य शब्द से कह रहे हैं, उसका क्या करना चाहिये।

उत्तर—पूजन में मंत्रपूर्वक चढ़ाया हुआ द्रव्य निर्माल्य कहलाता है, उसको हवन कर देना चाहिये, ऐसा जिनसेनाचार्य ने लिखा है। अतः जिन पूजा में उतना ही द्रव्य चढ़ाना चाहिये जितना सरलता पूर्वक हवन किया जा सके।

प्रश्न—माली अथवा व्यास को पूजन का द्रव्य निर्माल्य दे देने में क्या हानि है।

उत्तर—आज कल पूजन में इतना द्रव्य चढ़ाया जाता है कि माली उसको अपने घर में खूब खर्च भी कर लेवे तोभी बहुत बचा रहता है, वे लोग उसका अत्यन्त दुरुपयोग करते हैं। मांसभक्षी–म्लेच्छ लोगों में चावल आदि बेचकर पैसे उठा लेते हैं। वे लोग मांस में रांध

कर खाते हैं। अतः अभिमन्त्रित द्रव्य जब मांस के साथ म्लेच्छों के द्वारा इस प्रकार खाया जाया तो इससे अधिक और क्या दुरुपयोग होगा। अतः माली आदि को न देकर स्वल्प प्रमाण मे द्रव्य चढ़ावें तथा उसको हवन करें।

द्रव्य और भाव पूजा का विशेष स्वरूप

अमितिगति आचार्य ने जो निम्न लिखित पद्य के द्वारा द्रव्य पूजा और भाव पूजा का स्वरूप दिया है वह भी विचारणीय है।

"वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः॥"

अर्थ—अपने मन मात्र के संकोच का नाम भाव पूजा है और वचन तथा काय के संकोच को पुरातन पुरुषों ने द्रव्य पूजा कहा है।

तात्पर्य –प्राचीन पुरुषो के मत के अनुसार सांसारिक विषयों से वचन को तथा काय को हटा लेना अर्थात् किसी भी सांसारिक विषय में वचन एवं काय का प्रयोग न करना द्रव्य पूजा है अर्थात् सांसारिक प्रवृत्तियों से वचन तथा कार्य को हटा कर केवल भगवान की स्तुति मे लगा देना मात्र ही पूजा है। इसी प्रकार मानसिक प्रवृत्ति को सब तरफ से सकुंचित करके भगवान के ध्यान में लगा देने का नाम भाव पूजा है।

यह अमितगति आचार्य का सिद्धान्त पुरातन सिद्धान्त को लेकर प्रतीत होता है। क्योंकि "पुरातनै" ऐसा शब्द अपने पद्य में साक्षात् ग्रहण किया है। किन्तु इस काल के लोगों की इतनी भावों की उत्कृष्टता न होने के कारण हम आचार्य के अभिप्राय को द्रव्य पूजा में सामग्री चढाने का निषेध विषयक न समझकर इतना ही समझते हैं कि वचन तथा कार्य की प्रवृतियों को रोक कर भगवान की पूजा में लगना मुख्य है एवं द्रव्य पूजा है तथा मन वृत्तियो को रोक कर भगवान के ध्यान मे लगना भाव पूजा में मुख्य है। सामग्री चढ़ाने का निषेध नहीं प्रतात होता किन्तु भावों की मुख्यता प्रतीत होती है। सामग्री चढाना गृहस्थ के भावों की दृढता में परम सहायक होता है, अतः सामग्री भी चढाना हम अमितिगति एवं अन्य आचार्यों के मत से भी उचित समझते हैं। विशेषता भावों की तथा सामग्री के दुरुपयोग न होने की है सो हम उसका उपाय हवन करना बतला चुके हैं।

पूजाका द्रव्य निर्माल्य क्यों ?

प्रश्न—पूजा का द्रव्य निर्माल्य कैसे हो जाता है ?

उत्तर—यह पूजन का द्रव्य जिनेन्द्रदेव के निमित्त से चढ़ाया जा चुका है अतः निर्माल्य है। जैसे कषाय रहित आत्मा पुद्गल के योग से कषाय सहित हो जाता है, वह ही जब कषाय रहित हो जाता है तो जन्म रोग से दूर होकर भक्त पुरुषों तक के जन्म रोग हरने में समर्थ होता है। उसी प्रकार मंत्रों द्वारा कषाय रहित भगवान के लिये समर्पण किये हुए द्रव्य में भी पवित्रता आजाती है। उसको अन्य किसी को अपने उपयोग में लाना शास्त्र सम्मत एवं युक्ति युक्त नहीं है।

प्रतिमाजी का स्थानांतर

प्रश्न—शुभ मुहूर्त देखकर भगवान की प्रतिमाजी वेदी में विराजमान की जाती है। उस प्रतिमा को हम दूसरे स्थान पर ले जाकर एवं वहा विराजमान करके पूजा कर सकते हैं या नहीं ?

उत्तर—इस कालिकाल में जिन धर्मी राजा लोग नहीं रहे। अतः लोगों के व्यवहार में उच्छृंखलता की प्रवृत्ति हो गई। जब गृहस्थ लोग मन्दिर बनवाते हैं तथा श्री जी को वेदिका में विराजमान करते हैं तब ठीक २ लग्न मधने से अनेक अतिशय एवं चमत्कार तथा व्यन्तरों द्वारा महत्व प्रदर्शित होते रहते हैं। और जहा पर लग्न बिगड़ जाता है वहां पर अनेक उपद्रव होने लगते हैं। प्रतिमाजी को छोटे बच्चों का खेल समझ कर इधर उधर लेजाना ठीक नहीं है। इस प्रकार करने से अविनय होता है। लोग कषाय के वशीभूत होकर अपने को धार्मिक उद्घोषण करने के लिये प्रतिमा को जो वेदिका से ले जाकर इधर उधर विराजमान कर अविनय करते हैं यह ठीक नहीं है। इससे प्रतिमा का अतिशय बिल्कुल नष्ट हो जाता है और पुण्य बन्ध के स्थान पर उल्टा पापास्रव होता है। अतः ऐसा करना योग्य नहीं है।

प्रश्न—भगवान की प्रतिमा को पेटी या सन्दूक में रखकर यदि दूसरे स्थान पर ले जावें तो क्या हानि है ?

उत्तर—तुमने श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का महत्व ही नहीं समझा। देखो अंजना सुन्दरी ने पूर्व भव में अपनी सौत के द्वेष से श्री जी की प्रतिमा को विनय सहित स्थान से स्थानान्तर कर दिया था सोभी केवल २२ घडी के लिये। उसके कारण अंजना के भव में पापका उदय आया था। बाईस वर्ष तक पति का विछोह रहा। यह कथा पद्मपुराण तथा हनुमान पुराण मे आई है। उसने भगवान से कोई द्वेष नहीं किया था और विनय सहित स्थानान्तर में विराजमान कीथी; फिरभी ऐसा कर्मबन्ध हुआ जो अत्यन्त दुःख भोगने पड़े। आजकल की जनता हंस २ कर कर्म-बंधन करलेती है। जब उसका उदय आता है तथा दारुण फल भोगना पड़ता है तब मालूम होता है। क्योंकि यह आत्मा तो द्रव्य दृष्टि से परमात्मा के समान एवं परमात्मा रूप ही है। ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिये जिससे धर्म के बदले उल्टा अधर्म एवं पाप का बन्ध हो और यह आत्मा कर्म के जालों में फंसकर संसार में जन्म मरण करता फिरे। ऐसा श्री सत्पुरुषों का उपदेश है।

अभिषेक कथन

प्रश्न—अभिषेक पूजन के प्रथम होना चाहिये अथवा पूजन के बाद ?

उत्तर—अभिषेक पूजन से प्रथम ही करना चाहिये अथवा पीछे भी किया जा सकता है। अभिषेक के विषय में कहा है:—

"स्नपनार्चास्तुतिजपन्साम्यार्थं प्रतिमार्पिते।
युंज्याद्यथाऽऽम्नायमाद्यादृते संकल्पितेऽर्हति ॥ १ ॥ [बृहत्सामायिक पाठ]

अर्थ—साम्य भावों की प्राप्ति के लिये आम्नाय के अनुसार स्नपन, अर्चन, स्तवन और जपन आदि अर्हन्त प्रतिमा में करना चाहिये। और संकल्पित अर्हंत प्रतिबिम्ब में स्नपन को छोड कर अर्चन-स्तवन और जपन तीनों ही कार्य करने चाहिये।

तात्पर्य—साकार प्रतिमारूप स्थापना में अभिषेक, पूजन, स्तवन और जपन चारों कार्य करने चाहिये और पुष्प अक्षत आदि जो निराकार स्थापना की जाती है उसमें अभिषेक नहीं करना चाहिए। शेष पूजन, स्तवन, जपन तीनों ही करना चाहिये।

अभिषेक क्रिया पुण्य-बन्ध का कारण है और पुण्य-बन्ध गृहस्थियों को उपादेय है। यह कथन यशस्तिलक में किया गया है।

"श्रीकेतनं वाग्वनितानिवासं,
पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम्।
स्वर्गापवर्गे गमनैकहेतुम्,
जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ॥ १ ॥ [सोमदेव सूरिकृतयशस्तिलक उ. ८ पं. ३८२]

अर्थ—मैं लक्ष्मी की प्राप्ति के कारण, सरस्वती रूपी वनिता की निवास भूमि, उपासना करने वालों के लिये पुण्य रूपी धान्य की उत्पत्ति के क्षेत्र और स्वर्ग तथा मोक्ष के गमन में कारण भूत भगवान के अभिषेक का आश्रय लेता हूँ।

तात्पर्य—लक्ष्मी की प्राप्ति–विद्या-प्राप्ति और स्वर्गादिक एवं परम्परा से मुक्तिप्राप्ति का कारण भी पुण्य ही है और पुण्य का आस्रव जिनेन्द्र के अभिषेक द्वारा होता है। अतः भगवान का अभिषेक पुण्योपार्जन का विशेष स्थान है।

इसी भाव को पुष्ठकरती हुई एक योगीन्द्र देव की भी गाथा मिलती है।

"आरंभे जिणएहा विपए सावज्जं भणंति दंसणं,तेण।
जिमइ मलियो इच्छुया कांइ श्रो भंति ॥ [योगीन्द्र देव]

इस का तात्पर्य ऊपर के तुल्य ही है।

"पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिकाशीतशिवाम्बुराशौ ॥ ५८ ॥
[समन्तभद्रकृत स्वयंभूस्तोत्र, वासुपूज्य स्तुति]

अर्थ--हे भगवन् ! आपको पूजते हुए पूजाकृत आरंभ में जो पाप का लेश होता है वह बहुत थोड़ा होता है, और पुण्य की राशि बहुत विपुल प्राप्त होती है। जिस प्रकार शीतल जलसे भरे हुए समुद्र में एक विषकी बिन्दु का कुछ असर नहीं होता उसी प्रकार आप के पूजन द्वारा प्राप्त किये हुए पुण्य समूह में पूजन कृत आरंभ जनित पाप का कुछ असर नहीं होता है अर्थात् अमृत समुद्र में जिस प्रकार विष की बूंद कोई असर नहीं करती वैसे ही पूजा के विषय में किया गया पाप का लेश भी। यहां यह ध्यान देना चाहिए कि पूजा में कमसे कम आरंभ हो।

प्रश्न—भगवान की मूर्तियां जो वेदी में विराजमान हैं वे नग्न अवस्था मुनि मुद्रा को लिये हुए हैं और दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनियों के लिये स्नान का सर्वथा निषेध किया गया है। एक जल के बिन्दु में असंख्य जीव माने हैं तो जिन प्रतिमा को जल से अभिषेक क्यों किया जाता है ? इस कारण अभिषेक नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—भगवान की प्रतिमा होती है त्रयोदश गुणस्थान वर्ती अरहन्त की, न कि छठे गुणस्थान वर्ती मुनि की। उनके मूल गुणों में एक ऐसा मूल गुण है जो यावज्जीव स्नान त्याग रूप है।

प्रश्न—तो जब छठे गुणस्थानवर्ती मुनि ही स्नान नहीं कर सकते तो केवलज्ञानशाली की आदर्श रूप प्रतिमा का स्नान किस प्रकार संभव हो सकता है ? वे तो समवसरण में अन्तरीक्ष रहते हैं।

उत्तर "सद्दृष्टयः प्रकुर्वन्ति चाभिषेकं जिनस्य ये।

जन्मस्नानं च ते प्राप्य मेरौ यान्ति शिवालयम् ॥ २२३ ॥

[प्रश्नोत्तर श्रावकाचर अध्या २०]

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव का अभिषेक करते हैं वे मेरु पर्वत पर जन्माभिषेक पाकर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं अर्थात् वह तीर्थङ्कर होते हैं। मेरु पर्वत पर उनका जन्माभिषेक किया जाता है और अन्त में वे मोक्ष जाते हैं।

कहा भी है—

"जिनांगं स्वच्छनीरेण क्षालयन्ति स्वभावतः ।
येऽति पापमलं तेषां क्षयं गच्छति धर्मतः ॥ १९६ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अध्या० २०]

अर्थ—जो स्वभाव से ही स्वच्छजल है उससे भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का अभिषेक करते हैं उस धर्म के महात्म्य से उन का समस्त पाप कर्म नष्ट हो जाता है।

और भी कहा है—

"अभिषेकमहं नित्यं सुरनाथाः सुरैः समम् ।
द्विद्विप्रहरपर्यन्तमेकैकदिशि शान्तये ॥ ६९ ॥
कनत्कांचनकुंभस्य निर्गतैः निर्मलांबुभिः ।
महोत्सवशतैर्वाद्यैर्जयकोलाहलस्वनैः ॥ ७० ॥
नित्यं प्रकुर्वते भूत्वा विश्वविघ्नहरं शुभम् ।
जिनेन्द्रदिव्यबिम्बानां गीतनृत्यस्तवैः सह ॥ ७१ ॥"

अर्थ—देवों सहित इन्द्र हैं जो एक २ दिशामें दो प्रहर पर्यन्त अशुभ कर्म की शान्ति के निमित्त जिनेन्द्र के दिव्य बिम्बनि का गीत, नृत्य, स्तवन, तथा, अनेक वादित्र और अनेक उत्सव सहित जय २ कार शब्द रूप कोलाहल संयुक्त क्रान्तिमान सुवर्ण कुम्भनि के मुख से निकलता निर्मल जल कर निरन्तर (सदा) विघ्न को हरता शुभ महान अभिषेक नित्य करे हैं। ६९—७०—७१।

सं. प्र.

इन्द्र देवों सहित उल्लिखित प्रकार से भगवान का अभिषेक करता है। तदनुसार भव्य प्राणी भी भगवान् का अभिषेक करते हैं यह उल्लिखित पद्य श्री सकल कीर्तिकृत सिद्धान्त सार के दिये गये हैं।

अतः जलका अभिषेक उद्देश्यानु कूल होने से विहित है एवं किया जाता है तथा करना चाहिये। और पंचामृताभिषेक उद्देश्य से प्रतिकूल होने के कारण त्याज्य है।

और भी कहा है—

"अन्यस्थाने कृतं पापं धर्मस्थाने विमुञ्चति।
धर्मस्थाने कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥ १ ॥

तात्पर्य—अन्य स्थान में किये गये पाप से वो धर्म स्थान में छुटकारा हो जाता है, किन्तु धर्म स्थान में किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है।

जलाभिषेक ही योग्य है

आदिपुराण के प्रमाणों द्वारा जलाभिषेक ही सिद्ध होता है इस को प्रमाण सहित लिखते हैं।

"शातकुंभमयैः कुंभैरंभः क्षीरांबुधेः शुचिः।
सुराः श्रेणीकृतास्तेषां दाने तु प्रसृतास्ततः ॥ १३ ॥ ११०
पूतं स्वायं भुवं गात्रं स्प्रष्टुं क्षीराच्छशोणितं।
नान्यदस्ति जलं योग्यं क्षीराब्धिसलिलादृते ॥ १३ ॥ १११
मत्वेति नाकिभिः नूनमनूनप्रमदोदयैः।
पंचमस्यार्णवस्यांभः स्नानीयमुपकल्पितं ॥ १३ ॥ ११२
सैषाधारा जिनस्याधिमूर्द्ध पतन्त्यपां।
हेमाद्रेः शिरसीवोच्चैरच्छिन्नांबुधुं निम्नगाः ॥

कलशैरम्बुसंभृते । १२१ । विरजुरयच्छटोदूरं ॥ १२३ ॥
स्नानांभः शीकरोत्करः । १२५ । जलधरसः स्फुरन्तिस्म ॥ १२६ ॥
धीराः क्षीरार्णवांभसां । १२७ । जलानिजहसुर्नम् ॥ १२८ ॥
तेनांभसा सुरेन्द्राणां पृतनाः प्लाविताः क्षणं ॥ १३० ॥
तदंभः सममापतत् । १३२ । स्वच्छशोभमभाज्जलं ॥ १३४ ॥
ततोऽभिषेचनं भर्तुः कर्तुमारेभिरे सुराः ।
शातकुंभ विनिर्माणैः कुम्भैस्तीर्थांबुसंभृते । १६ । २०८ ॥
गंगासिंध्वोर्महानघोरप्राप्य धरणीतलं ।
प्रपातेहिमवत्कूटाधदंबुसमुपाहृतं । १६ । २०९ ॥
यच्च गांगं पयः स्वच्छं गंगाकुंडात् समुपाहृतं ।
सिन्धुकुण्डात्समानीतं सिंधोर्यत्कमपंककम् ॥ २१० ॥
शेषव्योमपगानां च सलिलं यदनाविलं ।
तत्तत्कुंडतदापात समासादितजन्मकम् ॥ २११ ॥
इत्याम्नातैर्जलैरेभिरभिसिक्तो जगद्गुरुः ।
स्वयं पूततमैरंगैरपुनातानिकेवलं ॥ २१६ ॥

अर्थ—श्रेणी बद्ध देव सुवर्णमयी कलशों द्वारा क्षीर समुद्रका जल लेने को संतोष पूर्वक निकले । ११० ।

देवों ने विचारा कि भगवान् स्वयंभू अत्यन्त पवित्र हैं और उनका रुधिर भी दुग्ध के समान शुभ्र एवं श्वेत है अतः उनके शरीर से स्पर्श करने योग्य क्षीर सागर के जल से अतिरिक्त अन्य जल नहीं हो सकता ॥ १११ ॥

इस प्रकार विचार कर देवों ने हर्ष के साथ पांचवें क्षीर सागर से जल लाने का निश्चय किया और देव गण कलशों में जल भर कर ले आया एवं भगवान का अभिषेक करना प्रारंभ कर दिया ॥ ११२ ॥

भगवान के मस्तक पर पड़ती हुई वह जल की धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों हिमवान पर्वत के मस्तक पर बड़े ऊंचे से अखंड जल से पड़ती हुई आकाश गंगा ही है।

इसके अतिरिक्त और भी इसी तेरहवें अध्याय में अभिषेक सम्बन्धी अनेक पद्य पाये जाते हैं, जिनके द्वारा जल ही प्रशंसनीय बत लाया गया है। विस्तार के भयसे केवल उनकी संख्या मात्र यहां दी जाती है जैसे नं० १२१, १२३, १२५, १२६, १२७, १२८, १३१, १३२, १३४,।

तदनंतर देवों ने तीर्थ के जल से सुवर्ण कलशों द्वारा भगवान् ऋषभ देव का अभिषेक करना आरंभ कर दिया। २०८

राज्याभिषेक के लिये गंगा और सिन्धु नदियों का ऐसा स्वच्छ जल लाया गया था जो हिमवान पर्वत की शिखर से धारा रूप में नीचे पड़ रहा था तथा पृथ्वीतल को जिसने छुआ तक नहीं था। २१०

इसी प्रकार लाये गये जल से जगद्गुरु भगवान ऋषभ देव का अभिषेक किया गया था। भगवान् का शरीर तो स्वयं पवित्र था अतः वह जल ही भगवान के शरीर से स्वयं पवित्र कर दिया गया था।

आगे मानस्तंभ मे स्थित जिन प्रतिमाओं का अभिषेक भी जल से ही होता है यह बतलाते हैं।

"दिक्चतुष्टयमाश्रित्यरेजेस्तंभचतुष्टयं।
तद्व्याजादिवोद्भूतं जिनानन्तचतुष्टयम् ॥ ९७ ॥
हिरण्मयी जिनेन्द्रार्चा तेषां बुध्नप्रतिष्ठिता।
देवेन्द्राः पूजयन्तिस्म क्षीरोदाम्भोनिषेचनैः ॥ ९८ ॥ [आदि पुराण पर्व २२]

अर्थ—वे मानस्तंभ चारों दिशाओं में चार थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो उन मास्तंभों के बहाने से भगवान के अनन्त चतुष्टय ही प्रगट हुये हैं। ९७।

उन मानस्तंभों के मूल भाग में सुवर्णमय भगवान की प्रतिमा विराजमान थी, जिनकी इन्द्र लोग क्षीर सागर के जल से अभिषेक कर पूजा करते थे। ६८।

और भी कहा है—

"दुग्धपयोनिधेः शुभ्रसुस्नेहेन सुवारिणा।
स्वभावपदमापन्नं सिद्धं संस्थापये जिनम् ॥ २५६ ॥ [वज्रदन्त चरित्र]

अर्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान् के प्रतिबिम्ब का अभिषेक देवेन्द्रों ने पांचवें क्षीर सागर के शुद्ध सफेद जल से प्रेम सहित किया।

आगे और भी कहते हैं—

"श्रीमद्भिः सुरसैः निसर्गविमलैः पुण्याशयाभ्याहृतैः।
शीतैश्चारुघटाश्रितैरवितथैः सन्तापविच्छेदकैः ॥
तृष्णोद्रेकहरैरजः प्रशमकैः प्राणोपमैः प्राणिनां।
तोयैर्जैनवचोमृतातिशयिभिःसंस्नापयामो जिनम् ॥

तात्पर्य—यहां पर भी जिन भगवान् का अभिषेक शुद्ध जल से करना लिखा है।

"दूरावनम्रसुरनाथ किरीट कोटि—
संलग्नरत्नकिरणच्छविधूसरांघ्रिम्।
प्रस्वेदतापमलमुक्तमपिकृष्टै—
र्भक्त्याजलैर्जिनपतिं बहुधाऽभिषिञ्चे ॥"

तात्पर्य—इसमें भी शुद्ध जल से ही अभिषेक कहा है।

और भी कहा है—

"अभिषेकजिनेन्द्रविम्बानां सलिलधारया।
यः करोति सुरत्वं स लभतेहि सुरालये ॥ १ ॥[महीधर मुनिकृत पुष्पदन्त चरित्र]

तात्पर्य—यहां पर भी शुद्धजल से ही अभिषेक करने का विधान है। आगे और भी प्रमाण देते हैं—

"श्री केतनं वाग्वनितानिवासं, पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानां।
स्वर्गापवर्गे गमनैकहेतु जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ॥ १ ॥"

अर्थ—शुद्ध जलसे अभिषेक करने से उपासक वर्ग को स्वर्ग पर्याय की प्राप्ति होती है, देवांगनायें मिलती है। ज्यादा क्या कहाजावे जहां तहां मूल संघ आम्नाय में शुद्ध जल से ही अभिषेक माना है। परन्तु जैनाभास काष्ठा संघियों के पंचामृताभिषेक कहा है।

और भी प्रमाण देते है—

"जगच्छ्रेष्ठो जगन्नाथो जगच्छ्रेष्ठैःप्रपूजितः।
वृद्धभामा जितानंगश्चायेतं सलिलादिकैः ॥ १ ॥ [जिनसेन कृत सहस्रनाम]

तात्पर्य—यहां भी शुद्ध जल से ही जिन विम्ब का अभिषेक कहा गया है। यह सब संस्कृत ग्रंथों के प्रमाण हैं। भाषा ग्रंथों में भी अनेक जगह जल से ही भगवान का अभिषेक करने की बात कही है। उनमें से एक उदाहरण देखिए।

"जिनवरविम्बभक्ति फलऐस, हरेजनमका दुःख कलेश।
समोसरण इन्द्रादिक आय मानस्तंभ देख हरषाय ॥ १ ॥
हिरणमयी जिन प्रतिमा तहां देव करत हैं नह्वन ज़ु जहां।
शुद्धखीर सागर जलल्याय तिससे महा अभिषेक रचाय ॥ २ ॥
अष्ट द्रव्य से पूजन करे, तासो सकल पाप पर हरे। [नैनसुखदास कृत अभिषेक पाठ]

यहां पर भी शुद्ध जल से ही अभिषेक का कथन है। शुद्धाम्नाय के ग्रन्थों में जहां देखो वहां जल का ही अभिषेक मिलेगा। अन्यथा लेख नहीं मिलेगा।

अभिषेक पूजन से पूर्व होना चाहिये या पीछे ?

प्रश्न—यहतो समझ गये कि अभिषेक जल से ही होता है किन्तु अब यह बतलाइये कि अभिषेक पूजन से पहले होना चाहिये या पीछे ? आगमानुसार क्या है ?

उत्तर—अभिषेक का विधान शास्त्रों में पूजन से प्रथम तथा पश्चात् भी मिलता है अतः पहले पीछे चाहे जब पूजा कर सकते हैं।

"विधाय विधिवद् भक्त्या शांतिपूजापुरस्सरम् ।
महाभिषेकं लोकेशामर्हतां सचिवोत्तमाः ॥ १ ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२]

अर्थ—श्रेष्ठ मन्त्रियों ने भगवान् अरहन्त का शान्ति पूजन पूर्वक विधि के अनुसार भक्ति सहित अभिषेक कर राजा को सिंहासन पर बैठाया।

यहां पर शान्ति के निमित्त पूजन करने के बाद अभिषेक का विधान पाया जाता है और अभिषेक आदि चार भेद प्रथम दिखाये जा चुके हैं, वहां पूजन से प्रथम अभिषेक का विधान आया है। अतः अभिषेक का करना उभयथा पहले या पीछे दोनों प्रकार सिद्ध है।

"मूलसंघ में ऋषिकृतग्रन्थ, कहत नित्य अभिषेक सुपंथ ।
यजन आदि फुनि अन्तमझार, केवल नीरथकी निरधार ॥"

अर्थ—मूल संघ के ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में अभिषेक पूजन के आदि और अन्त में केवल जल से करना निश्चय किया है।

स्त्री व शूद्रों के लिय पूजा-अभिषेक संबन्धी विधान

प्रश्न—अभिषेक सहित पूजन के छह भेद (अभिषेक-आह्वान-स्थापन-सन्निधिकरण-पूजन और विसर्जन) में से स्त्रियों के

लिये कितने भेद उपादेय हो सकते हैं ? तथा शूद्रों को यदि पूजा का अधिकार प्राप्त है तो उनके लिये कितने भेद आगम प्रमाण से अभिमत हैं ?

उत्तर—लोक व्यवहार के अनुसार स्त्री अभिषेक के अतिरिक्त पूजन के पांचों अंगों (भेद) को कर सकती है।

स्त्री प्रक्षाल सम्बन्धी विचार

प्रश्न—स्त्रियों को प्रक्षालन करने का अधिकार है या नहीं ?

उत्तर—स्त्रियों के लिये भगवान के अभिषेक का विधान मैंने किसी शास्त्र में नहीं देखा है। जन्म कल्याण के समय इन्द्रने भी जब भगवान् का अभिषेक किया था उस समय भी इन्द्राणी को साथ में नहीं लिया था। फिर स्त्री को प्रक्षाल करने की शास्त्र आज्ञा देता है, यह कहना कैसे कहा जा सकता है ? कथाकोष में जो कोटिभट श्रीपालराजा के कुष्ट दूर करने के लिये मैना सुन्दरी द्वारा प्रक्षाल का विधान मिलता है, वहां पर भी सिद्धचक्र के अर्चा‌लन का विधान मिलता है मैना सुन्दरी के ... भगवान की मूर्ति के अभिषेक का विधान नहीं पाया जाता है।

प्रश्न—अञ्जना सुन्दरी चरित्र में जब अंजना सुन्दरी का वन माली-दासी के साथ देश निकाले का वर्णन मिलता है, वहां पर भी उनके साथ प्रतिमाजी थी ऐसा वर्णन मिलता है। जब उनके साथ प्रतिमाजी थी तो उन का पूजन प्रक्षाल आदि अवश्य करती होंगी। अभिषेक किया गया ही होगा ऐसा

उत्तर—प्रतिमा की पूजन आवश्यक है। और पूजन बिना अभिषेक के भी हो सकता है। और पूजन बिना प्रक्षाल के भी पूजन का विधान अनेक स्थलों पर देखा गया है। सिद्ध हो जाना संभव नहीं है। क्योंकि बिना प्रक्षाल के भी पूजन का विधान अनेक स्थलों पर देखा गया है।

स्त्री को यदा कदाचित् रजस्वला होने की संभावना रहती है और रजस्वला की इतनी अशुद्धि मानी गई है कि वह उन दिनों में मन्दिर में दर्शनार्थ भी नहीं जा सकती। अतः स्त्री को प्रक्षाल करना युक्ति से संगत नहीं मालुम पड़ता है। दूसरे प्रक्षालका विधान किसी ग्रन्थ में हमको स्त्री के लिये नहीं मिलता है।

प्रश्न—यदि रजोधर्म की आशंका से स्त्री को प्रक्षाल करना अभिमत नहीं प्रतीत होता है तो पूजन करने के लिये भी रजोधर्म की आशंका से बाधा उपस्थित हो जाती है ?

उत्तर—पूजन प्रतिमा से अलग होकर की जाती है अर्थात् प्रतिमा के अङ्गों को पूजन करने वाले स्पर्श नहीं करते। अतः

रजस्वला होने पर भी पूजन छोड़कर स्त्री चली आ सकती है।

मैंने किसी आर्ष प्रणीत ग्रन्थ में स्त्रियों के लिये प्रक्षाल का विधान नहीं देखा है। यदि कोई विशेषज्ञ आगमवेत्ता आगम प्रमाण द्वारा इसका विधान सिद्धकर देवेंगे तो हम को सम्मत होगा। हम आगम प्रमाण को हरेक स्थान में हरेक विषय के लिये मानने के लिये तैय्यार है। हम आगम के विरोधी नहीं हैं। अतः विशेषज्ञ यत्र तत्र आगम प्रमाणों से प्रकवित विषयों पर प्रकाश डाल सकते हैं।

प्रश्न—शूद्रों को पूजन का अधिकार है या नहीं ?

उत्तर—शूद्रों के अनेक प्रकार हैं। योग्यतानुसार उनको पूजन एवं दर्शन का अधिकार है। आगे शूद्रों की योग्यता तथा प्रकार एवं तदनुसार पूजन का अधिकार आदि पुराण आदिक ग्रंथों के प्रमाणों द्वारा बतावेंगे। क्योंकि शूद्र को समवसरण में जाने का अधिकार शास्त्र सम्मत है तो सर्वथा पूजन का अधिकार उसको न मिले यह कैसे हो सकता है; केवल अन्तर योग्यता के अनुसार है। सिद्धान्तसार में समोसरणस्तवन में कहा है कि—

"मिथ्यादृष्टिरभव्योऽसंज्ञी जीवोऽत्र विद्यते नैव।
यश्चानध्यवसायो यः संदिग्धो विपर्यस्तः ॥ ५८ ॥
तत्र न मृत्युर्जन्म च विद्वेषो न च मन्मथोन्मादः।
रोगान्तकबुभुक्षाः पीडा च न विद्यते क्वापि ॥ ५९ ॥ [सिद्धान्तसार]

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असैनी, अनध्यवसायी संदिग्धज्ञानी और विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव भगवान के समवसरण में नहीं जाते हैं। क्योंकि उनकी आत्मा मे वहां जाने की भावना उत्पन्न नहीं होती है, अन्यथा वहां पर किसी भी जीव को जाने के लिये निषेध नहीं है। उस समवसरण के स्थान पर मृत्यु, जन्म, विद्वेष, कामोन्माद, राग, बुभुक्षा और पीड़ा सब दूर हो जाती है। वहां पर पशुतक भी जाते और स्वाभाविक वैरको छोड़कर परस्पर प्रेम करने लग जाते हैं।

आगे शूद्रों के लक्षण भेद एवं प्रभेद बतलाते हैं।

पशुपाल्यात्कृषेः शिल्पाद्वर्तन्ते तेषु केचन।
शुश्रूयन्ते त्रिवर्णं ये भाण्डभूषाम्बरादिभिः ॥ २३२ ॥

ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधा शूद्राः प्रकीर्तिता
येषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्या परथा परे ॥ ॥ २३३ ॥
सच्छूद्रा अपि स्वाधीनाः पराधीना अपि द्विधा ।
दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीनाः स्वोपजीविनः ॥ २३४ ॥
असच्छूद्रास्तथा द्वेधाऽकारवः कारवाः स्मृताः ।
अस्पृश्याः कारवश्चान्त्याजादयोऽकारवोऽन्यथा ॥ २३५ ॥
अस्पृश्यजनसंस्पर्शान्मृद्भाण्डं वर्जयेत्सदा ।
लोहभाण्डं भवेच्छुद्धं भस्मनः परिमार्जनात् ॥ २३६ ॥ [धर्मसंग्रह श्रावकाचार अ. ६]

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों में कितने ही तो पशुपालन से, कितने ही खेती से और कुछ लोग शिल्प विद्यासे अपना निर्वाह संपादन करते हैं और जो उल्लिखित तीनों वर्णों की वर्तन आदि मांजकर सेवा करते हैं वे शूद्र कहलाते हैं। २३२।

उन शूद्रों के सत् शूद्र और असत् शूद्र भेद से दो प्रकार है। जिन शूद्रों में स्त्रियों का (कन्याओं का, एक बार ही विवाह होता है अर्थात् पुनर्विवाह नहीं होता है वे सत शूद्र हैं और जिन के यहां स्त्रियों का पुनर्विवाह होता है वे असत् शूद्र हैं। २३३।

सत् शूद्रों के भी स्वाधीन और पराधीन विकल्प से दो प्रकार हैं। जो दासी एवं दास न रहकर स्वाधीन आजीविका करते हैं वे स्वाधीन हैं। और दासी और दास का काम करके अपना निर्वाह करते हैं वे पराधीन सत् शूद्र हैं। २३४।

असत शूद्रों में भी कारु और अकारु नाम से दो प्रकार हैं। उनमें जो स्पर्श करने योग्य नहीं होते हैं उन्हें कारु असत् शूद्र कहते हैं और जो स्पर्श योग्य हैं उन्हें अकारु असत् शूद्र कहते हैं। २३५।

अस्पृश्य शूद्रों के स्पर्श हो जाने पर मिट्टी आदि के वर्तन काम में नहीं लाये जाते हैं अर्थात फैंकदिये जाते हैं और लोहे के वर्तनों का स्पर्श हो जावे तो राख से मांजकर शुद्ध कर लिये जाते हैं। २३६।

इनका विशेष कथन आदि पुराण में आया है सो विस्तार से जानना होतो वहां से जानना चाहिये। ये वर्णों के प्रकार एवं व्यवस्था

आदीश्वर भगवान् के समय से ही कर्मभूमि की आदि में विदेह क्षेत्र के अनुसार स्वयं ऋषभ देव द्वारा की गई है।

तत्तत्कर्मानुसारेण जाता वर्णास्त्रयस्तदा
क्षत्रियाः वणिजः शूद्राः कृतास्तेऽनादि वेधसा ॥ २५० ॥ [आदि पुराण]

अथ—इस हुंडावसर्पिणी काल में भोगभूमि के सर्वथा विनाश हो जाने पर प्रजा की प्रार्थना करने पर भगवान आदीश्वर ने जिस का जैसा कर्म था उस २ कर्म के अनुसार क्षत्रिय वणिज और शूद्र तीन वर्णों की स्थापना की।

सागारधर्मामृत में भी पं० आशाधरजी ने लिखा है कि—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्ध्यास्तु तादृशः।
जात्याहीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥ २२ ॥

अर्थात्—आचरण-आसन—उपकरण एवं शयन तथा बैठने का स्थान जिसका शुद्ध हो तथा शरीर भी शुद्ध हो, जिसने मद्य मांस का त्याग कर दिया हो ऐसा शूद्र भी जैन धर्म की आराधना करने योग्य है। जो जाति से हीन अथवा छोटी जाति वाले हैं और अपि शब्द से जो उत्तम तथा मध्यम जाति के ब्राह्मण क्षत्रियादिक हैं वे भी काल लब्धि आदि धर्माचरण योग्य सामग्री मिलने पर ही धर्म धारण कर सकते हैं।

नीति वाक्यामृत में सोमदेव सूरि ने भी लिखा है—

"सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥ ११ ॥"

टीका—ये सच्छूद्रा शोभनशूद्रा भवन्ति ते सकृत्परिणयना एकवारं कृत विवाहाः द्वितीयं न कुर्वन्तीत्यर्थः। अथ शूद्रोऽपिदेव द्विजादीनां शुश्रूषाया योग्यो यथाभवति तथाह—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः
करोति शूद्रमपि देव द्विजतपस्विपरिकर्मसुयोग्यं ॥ १२ ॥

टीका—यः शूद्रोऽपि स देवद्विजतपस्विशुश्रूषायोग्यः यस्य किं शूद्रस्याचारानवद्यत्वं व्यवहारनिर्वाच्यता, तथोपस्करो गृह पात्र समुदायो स शुचिर्निमलः, तथा शरीरशुद्धिर्यस्य प्रायश्चित्तेन कृताऽऽसीत्। यथापि शूद्र करोति किं विशिष्टं देवद्विजतपस्विभक्तियोग्यं। तथा च चारायणः।

अर्थ—सामान्य रूप से जिन में स्त्रियों का विवाह एकबार ही होता है वे सत् शूद्र कहलाते हैं और उन्हीं को देव पूजन द्विजों तथा तपस्वियों की वैयावृत्य करने दान सन्मान आदि करने का अधिकार है।

वण्णेसु तीसुएक्को कल्लाणंगो तवोस होवयसा।
सुमुहोकुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥ [प्रवचनसार]

टीका—वण्णेसुतीसु एकको—वर्णेषु त्रिष्वेकः ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्यवर्णेष्वेकः कल्लाणंगो—कल्याणांगः आरोग्यः। तवोसहोवयसा तपः सह क्षमः। केन ? अतिवृद्धबालत्वरहितवयसा। सुहुमो निर्विकाराभ्यन्तर परमचैतन्यपरिणतिविशुद्धिज्ञापकं गमकं वहिरंगनिविकारं मुखं यस्य मुखावयव भंगरहितं वा स भवति सुमुखः कुंछा रहिदो—लोके मध्ये दुराचारापवाद रहितः; लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो एवं गुणविशिष्ट—पुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति यथायोग्य सच्छूद्राद्यपि।

अर्थ—यहां जिन दीक्षा के योग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को ही कहा है परन्तु यथा योग्य सत् शूद्रको भी कहा है। जब सत् शूद्र को उत्तम श्रावक क्षुल्लक दीक्षा योग्य माना है तब उसे जिन पूजा का अधिकार तो स्वयं होगया इसमें किस प्रकार की शंका नहीं रहती है।

और भी कहा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रोवाद्यः सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥ १७ ॥
कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबांधवादिभिः शुचिः।
गुरूपदिष्टमन्त्राढ्यः प्राणिबाधादिदूरगः ॥ १८ ॥ [पूजासार]

अर्थ—शीलवान हो, व्रतो का पूर्ण रूप से पालक हो, कुल तथा देश के अनुकूल सदाचारी हो, सत्य और शौच धर्म युक्त हो,

कुल और जाति से शुद्ध हो, मित्र एवं बंधुजनों से पवित्र हो, गुरु से दिये हुए मंत्र से युक्त और प्राणि हिंसासे दूर हो। चाहे क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कोई भी हो वह आद्य भेद रूप नित्य पूजन करने योग्य है। यहां पर आद्य शब्द से प्रथम पूजन नित्य पूजन ही होने से वह ही लियागया है।

आराधना कथाकोष करकुंड राजा की कथा में कहा है—

तदा गोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः।
भो सर्वोत्कृष्ट ! मे पद्मं गृहाणेदमिति स्फुटम् ॥ १५ ॥
उक्त्वा जिनेन्द्रपादाब्जो परिक्षिप्त्वा शुभपङ्कजम्।
गतो मुग्धजनानां च भवत्सत्कर्म शर्मदम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जब ग्वाले को सुगुप्ति मुनि के द्वारा यह मालूम होगया कि सर्वोत्कृष्ट श्री जिनेन्द्र देव ही हैं तब उस ग्वाले ने श्री जिनेन्द्र के सन्मुख खड़े होकर "हे सर्वोत्कृष्ट देव ! आप इस मेरे कमल को स्वीकार कीजिये" इतना कह कर भगवान के चरणों में कमल चढ़ाकर मंदिर से चला गया।

शूद्र क्षुल्लक दीक्षा का पात्र

कारिणो द्विविधा सिद्धा भोज्याभोज्यप्रभेदतः।
भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ॥ १५४ ॥ [प्रायश्चित्त चूलिका]

अर्थ—शूद्र के भोज्य और अभोज्य नामक दो भेद हैं। जिनके यहां का आहार एवं जल ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य खा पी सकते हैं वे भोज्य शूद्र कहलाते हैं। और भोज्य कारु (शूद्र) ही क्षुल्लक की दीक्षा का पात्र हो सकता है। उससे विपरीत जिनके ब्राह्मण उच्चवर्ण भोजन जल पान नहीं कर सकते वे अभोज्य शूद्र हैं उनको क्षुल्लक पद ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। अतः भोज्य शूद्र के लिये उत्तम श्रावक व्रत लेने का अधिकार प्रमाण से सिद्ध हो जाता है।

तात्पर्य है सत् शूद्र तो क्षुल्लक होकर श्रावक के व्रत तक एवं तदन्तर्गत पूजन तथा मंदिर में जाकर दर्शन आदि कर सकता है और असत् शूद्र मानस्तंभ के अन्तर्गत प्रतिमा के दर्शन मात्र का अधिकारी है। वह मन्दिर में जाकर पूजन और दर्शन आदि नहीं कर सकता।

उनका मन्दिर में प्रवेश आगम से विरुद्ध है।

इस कारण अपनी २ योग्यतानुकूल सत्शूद्र तथा असत् शूद्र धार्मिक कृत्य करके अपना आत्म कल्याण करें।

स्थापना

प्रश्न—आजकल जो चांवलों के पुष्पों से स्थापना की जाती है उसको नाम स्थापना कहते हैं। यह तदाकार स्थापना न होने से निराकार है अब वसुनन्दि श्रावकाचार में निराकार स्थापना के लिये निम्नगाथा द्वारा निषेध पाया जाता है तो फिर निराकार स्थापना क्यों की जाती है ?

हुंडावसप्पिणीए विइयाठवणा ण होथ कायव्वा।
लोए कुलिंग मय मोहियं जदा होइ संदेहो ॥ ३८४ ॥ [वसुनन्दी]

अर्थ—इस हुंडावसर्पिणी काल में लोक में कुलिंगों के आधिक्य होने से संदेह तथा मोह हो सकता है अतः निराकार स्थापना नहीं करना चाहिये।

उत्तर—क्यो कि निराकार स्थापना सन्मुख प्रतिमा के होते हुए की जाती है अतः कुलिंगों का भय नहीं रहता। केवल प्रतिमाको सन्मुख न रखकर यदि अक्षतों में निराकार स्थापन की जाती तो संदेह मोह की आशंका हो सकती थी। इस कारण यह निषेध इस आशय को प्रकट करता है कि केवल अक्षतों में स्थापना नहीं होनी चाहिये, प्रतिमा का संमुख होना आवश्यक है जिससे कुलिंगमय इस जगत में संदेह और मोह के उत्पन्न होने को अवकाश न मिलसके।

मुनि वीरनंदिकृत आचार सार में भी दोनों प्रकार की स्थापना का दिग्दर्शन कराया है एवं अन्यत्र भी निषेध अतदाकार के लिये नहीं देखा गया है।

सस्स्यंस्यात्स्थापना सत्यं प्रतिबिम्बाक्षतादिषु।
चन्द्रप्रभजिनेन्द्रोऽयमित्यादि वचनं मृषा ॥ २८ ॥ [आचारसार]

अर्थ—तदाकार और अतदाकार नामक स्थापना के दो भेद हैं। तदाकार—जैसे भगवान जिनेन्द्र की पुरुषाकार जिन-बिम्ब स्थापना और अतदाकार—जैसे रंगे चावलों में चन्द्रप्रभ समझना। अर्थात् वैसा आकार प्रकार बना कर नाम रखना तदाकार है और आकार प्रकार न बना कर किसी वस्तु में स्थापना करना अतदाकार स्थापना है। इस प्रकार सिद्धान्तों में दोनों ही स्थापना का विधान मिलता है।

पं० सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका में लिखा है कि यह स्थापना सं० १८७० से चालू हुई है।

हमारे विचार में पुष्पों में जो भगवान् का आह्वान स्थापना आदि क्रिया की जाती है वह सत्कार प्रदर्शक है। क्योंकि सिद्ध और अरहन्त भगवान् का आगमन तो होता ही नहीं है। यह केवल भावना और भावों की उत्कृष्टता एवं आदर सत्कार मात्र है।

पूजा करते समय खुला शरीर नहीं होना चाहिये। एक धोती दुपट्टा होना अत्यावश्यक है और पूजन के कपड़े अत्यन्त शुद्ध ऐसे होने चाहिये जो घर पर काम में न आये हों।

निर्दोष सप्तमी

प्रश्न—निर्दोष सप्तमी के दिन प्रोषधोपवास करना और भगवान् को एक दुग्ध से भरे हुए कुण्ड में रखदेना और फिर रात्रिभर उसमें ही रखने से महान् पुण्य का आस्रव होता है ऐसा मानना, कहां तक ठीक है? एवं इसका उल्लेख किसी जैन सिद्धान्त में है या नहीं?

उत्तर—आपने जो यह प्रश्न किया है सो ठीक है। आजकल अनेक दिगम्बर मुनिराज भी ऐसा करने लगे हैं। किन्तु यह प्रथा जैन सिद्धान्त से प्रतिकूल है। जैन ग्रन्थों में इस का उल्लेख नहीं है। यह प्रथा वैष्णव सम्प्रदाय की है। उनके वेद व्यास प्रणीत भागवत में ऐसा लेख मिलता है कि जब संसार का प्रलय होगया था तब भगवान क्षीर सागर (क्षीर कुण्ड) में शेषनाग की शय्या पर जाकर पौढ़ गये और वहां ही उन्होंने लोक की रचना की।

प्रश्न—यदि यह कथन वैष्णव सम्प्रदाय का है तो जैनाचार्यों ने क्या लाभ समझ कर इसे अपनाया है?

उत्तर—जैनाचार्यों को इस का प्रकार के कथन से किसी प्रकार का भी लाभ नहीं है। इसका कारण यह है कि नाचार्यों में थोड़े दिन से एक भट्टारक मार्ग निकला, और उन भट्टारकों में ब्राह्मण जाति के भट्टारक हुए। उन्होंने विद्याध्ययन कर एवं विद्वान् बनकर ब्राह्मण सम्प्रदाय की बातें ब्राह्मण जाति के संस्कार के कारण जैन धर्म में डाल दी हैं।

प्रश्न—जैनमत में भी तो एक कथा मिलती है कि सेठानीजी ने व्रत किया और भगवान को क्षीर कुण्ड में विराजमान किया

और उसका फल सेठजी को यह मिला कि सेठजी जब सर्प के हाथ लगाते थे तो वह सर्प हार हो जाता था। और जब वह उसे छोड़ देता था तो उस हार के कोई हाथ लगाता था तो वह सर्प हो जाता था। वह बात कहां तक ठीक है ? व्रत कोई करे और उसका फल अन्य को मिले ? यह कथा मुद्रित भी हो चुकी है।

उत्तर—यह कथन जैन सिद्धान्त से सर्वथा प्रतिकूल है। संसार में जीव जो कर्म करता है उसका फल वही भोगता है और कोई दूसरा नहीं। कहा भी है कि—

> स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
> परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥ ३० ॥ [अमितगतिकृत सामायिकपाठ]

अर्थ—पूर्वकाल में आत्मा जो कुछ कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल स्वयं भोगता है। यदि फल दूसरे को मिलने लगे तो अपना किया हुआ कर्म निरर्थक हो जावे।

रात्रि-पूजन का निषेध

प्रश्न—दिगम्बर जैन समाज में भी आजकल जो बहुत से जैन रात्रि पूजन करने लगे हैं यह कहां तक ठीक है ? आगमानुकूल है या नहीं ?

उत्तर—दिगम्बर जैन सिद्धान्तों में रात्रि-पूजन का विधान नहीं है। बल्कि अनेक स्थलों पर रात्रि-पूजन का निषेध मिलता है।

प्रश्न—कौन २ ग्रन्थ में किस २ स्थान पर निषेध मिलता है ?

उत्तर—निम्न लिखित प्रमाण देखिये:—

> "यत्र नास्तियतिवर्गसंगमो यत्र नास्ति गुरुदेवपूजनम् ।
> यत्र संयमविनाशिभोजनम् यत्र संसजति जीवभक्षणम् ॥ ४१ ॥
> यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनम् यत्र नास्ति गमनागमनक्रिया ।
> तत्र दोषनिलये दिनात्यये धर्मकर्मकुशला न भुंजते ॥ ४२ ॥ [अमितगति श्रावकाचार अध्या. ५]

अर्थ—अर जा विषैं यतीन के समूह का संगम नाहीं, अर जा विषैं गुरु देव का पूजन नाहीं, अर जा विषैं संयम का विनाश करने वाला भोजन होय है, अर जा विषैं जीवन का भक्षण उपजै हैं। ४१।

अर जा विषै सर्व शुभ कर्म का वर्जन होय हैं, अर जा विषै गमनागमन क्रिया नाहीं है—ऐसा दोषनिका ठिकाना दिन का अभाव रूप रात्रि ता विषै धर्म कर्म में प्रवीण पुरुष हैं ते भोजन न करे हैं। ४२।

और भी कहा है—

"देवगुर्वोरर्चनायाः कार्यं रात्रौ न संचरेत ।
तस्मात्पापादशुभं हि सः नरके याति ध्रुवम् ॥ १ ॥"

अर्थ—देव और गुरुओं के पूजन का कार्य भूल कर भी रात्रि में नहीं करे। क्योंकि कितनी भी सावधानी रखी जावे तब भी जीव-हिंसा का रात्रि मे संभव है और जीव हिंसा जैन धर्म में सर्वथा वर्जनीय है। क्योंकि जीव हिंसा नरक के पतन का कारण है। यदि जीव हिंसा करने वाला प्राणी भी स्वर्ग को प्राप्त करने लगे तो नरक का पात्र कौन होगा ? अतः देव गुरु पूजा का आरंभ रात्रि में कदापि नहीं करना चाहिये। रात्रि में पूजन करने से हिंसा का संभव है अतः रात्रि पूजन आचार्यों द्वारा निषिद्ध है।

तात्पर्य यह है, कि धर्म कार्य में रात्रि वर्जनीय है। पूजादिक कार्य उनके यहां भी रात्रि में वर्जनीय हैं; जो कि रात्रि में कार्य करने वाले हैं। फिर जैन धर्म तो आरम्भीकार्य जो हिंसा जनक है उसका निषेध करेगा ही।

जिनेन्द्र पूजन की प्रचलित पद्धति

प्रश्न—हमने सुना है कि प्राचीन काल के श्रावक लोग भी जो भगवान् का पूजन करते थे वे भी प्रचलित पद्धति के अनुसार करते थे। सो ठीक २ निर्णय कीजिये कि पहलेभी आजकल के अनुसार श्रावक पूजन करते थे या नहीं ? या कुछ अन्तर था।

उत्तर—प्राचीन काल में जो श्रावक लोग होते थे उनके घर में जिनेन्द्र भगवान् के उपदेशानुकूल सदाही प्रवृत्ति रहा करती थी। उनको किसी प्रकार का नया अपंड बना कर पूजन का आडम्बर आजका सा नहीं करना पड़ता था। उनके यहां तो जिनेन्द्र भगवान् की पूजन की विधि थी वह दैनिक क्रिया मे सरल रूप से चालू थी। इसमें उनको किसी प्रकार की अड़चन नहीं थी।

प्रश्न—उनकी दैनिक क्रिया किस रूप से हुआ करती थी ?

उत्तर—उन श्रा .कों के घर में भोजन क्रिया की शुद्ध आम्नाय थी। जिस प्रकार अन्य सब पदार्थ मर्यादित रहा करते थे उसी प्रकार जल भी रहा करता था। सो वह श्रावक अपनी दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर शुद्ध वस्त्र धारण कर, पूजन का द्रव्य सोध कर, अपने घर से पानी छान कर, उससे द्रव्य धोकर, और शुद्ध जल के छोटे २ दो कलश लेकर मन्दिरजी में जाते थे और एक लोटा हाथ में लेजाते थे। उससे अपने पांव धोकर मन्दिरजी मे चले जाते थे। और उस थाल के कलशों से श्री जिनका प्रक्षाल करके जो द्रव्य लेजाते थे उससे पूजन करके उस द्रव्य को जल में या चांदनी में पक्षियों के लिये डाल देते थे। बाद में अपने बरतनों को स्वयं घर पर लाकर मांज कर रख देते थे। फिर दूसरे दिन भी वैसे ही काम में ले लेते थे। इस प्रकर का उनका दैनिक कार्य होता था।

प्रश्न—यदि ऐसा ही है तो आजकल मन्दिरों में वैसे कार्य क्यों नहीं होते ? इतना अन्तर क्यों होगया ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् हमारे यहां एक भट्टारक पंथ निकला। उसके द्वारा ऐसी प्रवृत्ति चालू होगई। भट्टारकों ने पूजन के वास्ते इस प्रकार समझाया कि आप लोगों को प्रतिदिन घर से सामग्री लाने में बड़ी आपत्ति पड़ती है। अतः यह सब सामग्री मन्दिरजी में ही रखदा जावे और जो व्यास मन्दिरजी में रहता है वह जल भर दिया करेगा। उस जल से स्नान करके श्रावक लोग कुवे से जल भर लावें और यहां हो द्रव्य धोकर पूजा करली-जावे तो तुमको सुविधा रहेगी। पहले श्रावक सरल स्वभावी थे। उन्होंने उनकी बात को स्वीकार करलिया। बस फिर ऐसी प्रवृत्ति चलगई। और आजतो गृहस्थियों के यहां उस प्रकार की शुद्धता भी नहीं रही। जिससे पूर्ववत् शुद्धता पूर्वक पूजनादि की तैय्यारी को जा सके।

प्रश्न—भट्टारकों ने ऐसा क्या लाभ समझ कर किया ?

उत्तर—उन लोगों ने ऐसा इस वास्ते किया कि यहां पर सामग्री रहेगी तो इसके निमित्त से रुपये पैसे भी भंडारे में आया करेंगे, जिससे हमारा भी ठीक तौर से काम चल सकेगा। इस लोभ से उन्होंने यह कार्य चालू कर दिया।

प्रश्न—तो क्या ये जैन धर्मावलम्बी होकर भी श्री मन्दिरजी के भण्डार के द्रव्य को जो कि दान में आया है, खा जाया करते थे ?

उत्तर—यह दान का द्रव्य भी और जैन होकर भी अवश्य खालिया करते थे। अन्यथा इनके पास लाखों करोड़ों की सम्पत्ति कहां से होजाती। तथा हजारों रुपये माहवार खर्च किस प्रकार कर पाते।

प्रश्न—तो क्या ये लोग भगवान् के उपदेश से प्रतिकूल चलकर नरक जाने से भी नहीं डरते थे ?

उत्तर—ये भट्टारक लोग पहले समय में तो जैन ही हुआ करते थे । परन्तु कुछ समय बाद जब जैनों ने अपने बालक इन को देने बन्द करदिये तो ये भट्टारक ब्राह्मणों के कुमार लेने लगे और उनको भट्टारक पद एवं गद्दी भी मिलगई । तब उन्होंने अपने वर्ण एवं धर्म के अनुकूल अनेक रीति रिवाज चलादिये । जैसे गोमय शुद्धि, चमरी गाय के चमर शुद्धि, श्राद्ध, तर्पण, आरती करना, श्रावकों के व्रत उपवासों का उद्यापन कराना, मन्दिर में गाय रखना, दान देना, शास्त्र पढने वाले पण्डित के लिये श्रावकों से द्रव्य दिलवाना, संक्रान्ति दान, नवग्रह पूजन क्षेत्र पाल पूजन, आदि । कहां तक लिखा जावे अनेक बातें चलादी । इसका विवरण पहले दे चुके हैं, वहां से जान लेना ।

प्रश्न—तो क्या ये जैन पुराणों को पढ़कर भी पाप से नहीं भयभीत हुए ?

उत्तर—इनको अपने कुल के दृढ संस्कार थे । ये लोग ब्राह्मण थे, इनके यहां तो भगवान् को चढाया हुआ पदार्थ प्रसाद कहलाता है । ये लोग उसे खाते ही हैं, तो ये क्यों भयभीत होते ?

प्रश्न—इनकी रचना तो भरत चक्रवर्ती ने की थी । यदि ऐसा ही होना था तो इस समाज की रचना उन्होंने क्यों की ?

उत्तर—प्रथम भरत चक्रवर्ती ने दान देने के लिये इन की रचना की । फिर आदीश्वर महाराज से पूछा, तब उन्होंने इन के लिये बतलाया था कि आज दान देने की भावना से जो इस समाज की रचना की गई है वह ठीक है—किन्तु काल प्रभाव से आगे जाकर ये लोग आचार शून्य, धर्म विमुख और जिनमार्ग के विरुद्ध आचरण करने वाले हो जायंगे । और वैसा ही हुआ । इसके सम्बन्ध में आदि पुराण में विशेष देखना चाहिए ।

कुछ आवश्यक विषयों का ऐतिहासिक परिचय

"वाससयं तइकालो परिगलि ओ वड्ढमाणतित्थेसु ।
एसो भविष्यं जाणइ मरहे सुदकेवली णत्थि ॥ ७२ ॥ [श्रुतस्कन्ध]

अर्थ—मिति कार्तिक वदि १४ के दिन बीते बाद उपरान्त रात्रि में जब अन्तर्मुहूर्त रात्रि शेष रही तब अमावस होने वाली थी उसी समय भगवान् महावीर निर्वाण पधारे थे ।

सं. प्र.

भगवान् महावीर जब मोक्ष पधारे थे उस समय चतुर्थकाल का ३ तीन वर्ष साढे आठ (८॥) माह शेष था। उस समय देवों ने आकर निर्वाण कल्याण की पूजा की। उनके बाद उसी दिन संध्या के समय इन्द्रभूति एवं गौतम नामा गणधर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ था अतः देवों ने आकर उनके ज्ञान कल्याणक की पूजा की एवं उत्सव किया था। उसी दिन से यह दीपमालिका त्यौहार अबतक मनाया जारहा है। केवली गौतम गणधर ने १२ वर्ष तक धर्म की देशना दी। तदुपरान्त उनको निर्वाण पद की प्राप्ति हुई थी।

गौतम गणधर के निर्वाण गमन पश्चात् सुधर्माचार्य को केवल ज्ञान प्रकट हुआ और केवलज्ञान पश्चात् उन्होंने १२ बारह वर्ष पर्यन्त धर्म की देशना दी। तदुपरान्त निर्वाण पद प्राप्त किया।

सुधर्माचार्य के पश्चात् जम्बू स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और उन्होंने भी ३८ अड़तीस वर्ष पर्यन्त धर्मोपदेश रूपी अमृत की वर्षा से भव्य प्राणियों को संतुष्ट किया। श्री महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् भी ६२ वर्ष तक केवली विराजमान रहे।

आगे श्रुत केवलियों का समय आया जिसमें १ विष्णुनन्दी २ नन्दिमित्र ३ अपराजित ४ गोवर्धन और ५ भद्रबाहु इस प्रकार पांच श्रुत केवली हुए। इनका समय भी १०० वर्ष तक निम्न लिखित क्रम से चलता रहे।

महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात तीन केवलियों तथा पांच श्रुत केवलियों के १६२ एक सौ बासठ वर्ष का विवरण—

नाम	ज्ञान	वर्ष संख्या
१ श्री गौतमगणधर	केवलज्ञानी	१२
२ सुधर्माचार्य	”	१२
३ जम्बूस्वामी	”	३८
		योग—६२
४ विष्णुनन्दी	श्रुतकेवली	१४
५ नन्दिमित्र	”	१६
६ अपराजित	”	२२
७ गोवर्धनाचार्य	”	१९
८ भद्रबाहु प्रथम	”	२९
		योग—१००
		दोनों का योग—१६२

इनके बाद ११ मुनिराज दश दश पूर्व पाठी निम्न क्रम से एकसौ तेरासी वर्ष के अन्तर्गत हुवे—

नाम	ज्ञान	वर्ष
९ विशाखाचार्य	१० दश पूर्वधारी	१०

म. प.

नाम	ज्ञान	वर्ष संख्या
१० प्रोष्ठिल	,,	१६
११ क्षत्रिय	,,	१७
१२ जयसेन	,,	२१
१३ नागसेन	,,	१८
१४ सिद्धार्थ	,,	१७
१५ धृतिक्षेत्र	,,	१८
१६ विजये	,,	१३
१७ बुद्धिलिंग (बुद्धिमान)	,,	२०
१८ देव (गंगसेन)	,,	१४
१९ धर्मसेन (बुद्धिसेन)	,,	१६
		योग—१८३

इनके बाद १२३ वर्ष में निम्न प्रकार से पांच मुनिराज ग्यारह—ग्यारह अंगधारी हुवे।

नाम	ज्ञान	वर्ष
२० नक्षत्रपाल	११ अंग	१८
२१ जयपाल	,,	२०
२२ पांडव	,,	३९
२३ ध्रुवसेन	,,	१४
२४ कंसाचार्य	,,	३२
		योग -१२३

आगे जो क्षीण अंगधारी मुनि हुवे उनके द्वारा धर्मोद्योत होता रहा। उनकी नामावलि तथा विवरण निम्न प्रकार है—

नाम	ज्ञान	वर्ष
२५ सुभद्राचार्य	१० अंग	६
२६ यशोभद्र	९ ,,	१८
२७ भद्रबाहु द्वितीय	८ ,,	२३
२८ लोहाचार्य प्रथम	७ ,,	२८
२९ अर्हद्बलि	१ ,,	२२
		योग—९७
३० माघनन्दि	क्षीणएकाङ्गधारी	१७
		योग—१७

जिस समय माघनंदि मुनिराज का देहावसान हुवा था, उस समय भगवान् महावीर स्वामी को मोक्ष पधारे ५८२ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। ५८२ वर्षों में उक्त प्रकार से ज्ञान के धारी आचार्य हुए। यहां प्रसंग पाकर श्री माघनंदि मुनि के जीवन की एक घटना का वर्णन करते हैं।

माघनन्दी आचार्य एक समय गोचरी के लिये जा रहे थे। मार्ग में एक कुंभकार की पुत्री बड़ी भारी वर्षा की संभावना से आँवा में रखे हुए बर्तनों के गल जाने की आशंका से रो रही थी। मुनिराज ने उसके हृदय की बात को समझ कर आँवे की परिक्रमा देदी। परिक्रमा में वह कन्या भी पीछे रही। कुछ देर बाद बड़ी जोर से वर्षा हुई, किन्तु उस आँवे पर एक बिन्दु भी पानी न आया। इसके बाद उस कन्या का पिता आया। उसने पूछा कि इतनी वर्षा होने पर भी इस आँवे पर पानी नहीं पड़ा क्या कारण है। इस प्रकार आश्चर्य में पड़े हुए अपने पिता को उस कन्याने मुनिराज ने जो उसकी परिक्रमा दी थी वह वृतान्त कह सुनाया। कुंभकार अपनी कन्या को साथ लेकर इन चमत्कारी मुनिराज के पास गया और कहने लगा महाराज! आपने जो मेरी कन्या को साथ लेकर उस आँवे की परिक्रमा दी है अतः यह कन्या आप से विवाहित हो गई। अब मैं इसको अन्य को कैसे देसकता हूँ? आप को इसको अपने पास रखना होगा। पूर्व भव के कर्मों के सम्बन्ध से मुनिराज ने उसके साथ फिर विवाह कर लिया और कुंभकार के घर पर ही रहकर बर्तन बनाने लगे। पीछी और कमण्डलु को निम्ब पर रखदिया, मुनि वेष को त्याग दिया।

कुछ दिन पश्चात् मालव देश में कोई विवाद हुआ उस सभा में उसका निर्णय न हो सका। इसका निश्चय माघनन्दी आचार्य के द्वारा ही हो सकेगा ऐसा निश्चय करके अन्वेषण करते २ कुम्भकार के घर पर आये और माघनन्दी से जो उस समय बर्तन बना रहे थे, आकर पूछा कि मुनि माघनन्दी कहां मिलेंगे। उन्होंने "मुनि" इस विशेषण से युक्त अपना माघनन्दी नाम सुना और तुरत बोध हो गया और कहा वह मैं ही हूँ ऐसा कहकर उनकी शंका का समाधान किया और विचारा अहा मैं अब भी मुनि कहलाता हूँ और मेरी यह दशा है। तुरत कुंभकार की लड़की से विदा ले पीछी कमण्डलु संभाल लिया और फिर मुनि दीक्षा धारण करली और यह प्रायश्चित्त लिया कि जब तक पांच व्यक्ति जैनधर्म से दीक्षित न हो तब तक भोजन नहीं करना। अतः वे प्रतिदिन ५ पांच प्राणियों को जैनधर्म की दीक्षा देकर भोजन करते थे। इस प्रतिज्ञा का यावज्जीवन निर्वाह किया। इस प्रकार की कथा पुण्याश्रव नामा कथा कोष में कही है। तथा यही बात पद्य में महाचन्द्रजी ने कही है।

> एक समय श्री माघनन्दी मुनि गये अहारन हेत।
> ब्याह रचौ कुम्हरा की धी सौं बासन गढ़ गढ़ देत॥
> टरे नहीं टारे से जैसी होनहार सोइ होत।

इनके पश्चात् क्षीणाङ्गधारी गुण चन्द्र स्वामी हुवे।

३१ श्री गुणचन्द्र स्वामी	क्षीणाङ्गधारी	१७
		योग—१७

इस समय विक्रम सं० ४६ था और इसी समय कुन्दकुन्द स्वामी हुए हैं।

(३२) कुन्दकुन्द स्वामी (प्रथम आचार्य क्षीणांगधारी $\frac{४५}{}$

योग सं० ६३४—४५

कुन्दकुन्द स्वामी का परिचय

कुन्दकुन्द स्वामी माघनन्दि मुनि के प्रशिष्य और गुणचन्द्र मुनि के शिष्य थे। आपने ही पूर्व विदेह में जाकर वीतराग सर्वज्ञ सीमन्धर स्वामी के मुख से दिव्य-ध्वनि श्रवण कर अपनी शंका दूर करने के साथ तत्वज्ञान की विशेषता भी प्राप्त की थी। आपका ही दूसरा नाम पद्मनन्दी भी था तथा अन्य भी इनके नाम मिलते हैं। आप ही तात्त्व निर्णयार्थ ग्रन्थों का रहस्य चार प्रकार का सिद्धान्त लाये थे। १ मतान्तर निर्णय २ सर्व शास्त्र ३ कर्म प्रकाश और ४ न्याय प्रकाश। आपने वादि प्रतिवादियों द्वारा मान्य अनेक ग्रन्थ रत्न बनाये।

उनका कुछ परिचय जो श्रुतावतार से मिलता है वह भी उद्धृत किया जाता है।

भगवत्कुन्दकुन्दगुरुपरिचयः

भगवत्कुन्दकुन्दस्य पाठयिता गुरुः कः आसीदित्यत्रापि मतपार्थक्यं पूर्वोद्धृतपट्टावली पद्यद्वितीयेन विभाव्यते—माघनन्द्याचार्यान्तेवासी गुणचन्द्रस्तच्छिष्यः उत्तराधिकारी वा भगवान् कुन्दकुन्दः समभूत् इतिव्यावर्णितः।

अथ श्री कुमारनंदिसैंद्धान्तिकदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमन्धरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणादवधारितपदार्थसमूहैः शुद्धात्मतत्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्यपरनामधेयैरन्तस्तत्त्वबहितत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं—अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरच्यते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकतात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

इति श्रीमज्जयसेनाचार्यकरकल्पमहीरुहस्वचितसमयसारसंस्कृतटीका लिखितगाथा पद्मनन्दीत्यपराभिधाविभूषितश्रीकुन्दकुन्द भगवान् कुमारनंदिसैंद्धान्तिकशिष्यः प्रकटीकृतः। किन्तु मतद्वयमपीदमर्वाचीनतमत्वान्न प्रामाणिकीं तथ्यतामवाचन्ति यतः श्रुतावतारे—

"अर्हद्वले पश्च ान्माघनन्दिनस्तदनन्तरञ्च धरसेनादिगुरूणा समुल्लेखः कृतः न माघनन्द्यनन्तरं गुणचन्द्रस्य नापिकुमारनन्दिनः।

श्रवणवेलगुललेखेष्वपि न कापि श्रीकुन्द-कुन्दगुरोरुल्लेखो दृष्टिपथमवातरत्। किन्तु महीपतिचन्द्रगुप्तवर्णाना समनतरं कुन्द-कुन्द भगवाने व समुपवर्णितः।

भगवान् कुन्द-कुन्दस्वामी का कुछ परिचय जो एटा निवासी कामताप्रसादजी जैन ने लिखा है वो भी यहा पर दिया जाता है—

"मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुंद कुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥ १ ॥"

"दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी का आसन बहुत ऊंचा माना है। जैन मन्दिरों में प्रतिदिन उपरोक्त श्लोक को दुहरा कर भक्तजन उनकी विनती गौतम स्वामी के बाद करते हैं। सचमुच दिगम्बर सम्प्रदाय का मूल आधार इन आचार्य प्रवर के महान व्यक्तित्व में स्थित है। यदि कुन्दकुन्द आचार्य नहीं होते तो शायद दिगम्बर सम्प्रदाय भी इतना उन्नतशील न होता। इस समय में उनका सम्बन्ध दक्षिण भारत से बहुत है। पहिली शताब्दी के लगभग दक्षिण में एकपदीधनाडुनामका एक प्रदेशथा। उस प्रदेश में 'कुरुमरई' नाम का एक ग्रामथा। उसमें एक करमुण्ड नामका धनिक वणिक रहता था। उनकी स्त्री का नाम श्रीमति था। उनके यहां एक मतीवरण नाम का गोपाल गौ चराने के लिए नौकर था। एक दिन वह गौ चराने जा रहा था तो अग्नि से सारा जगल जलाहुआ देखा। कुछ एक प्रदेश बीच में हरा भरा दिखाई दिया और कुछ पेड़ भी दिखाई दिये। ऐसा देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ दौड़कर वहा पहुंचा तो एक मुनि के रहने एवं निवास करने का स्थान देखा तथा आले मे आगम ग्रन्थ देखे। उनको वह ले आया और उन आगम ग्रन्थों को अपने घरमें रख लिया।

सेठ करमुण्ड के कोई सन्तान नहीं थी। अतः सेठानी तथा सेठ का चित्त उदास रहता था। एक दिन उनके यहां प्रभावशाली दिगम्बर मुनि का आहारार्थ आगमन होगया और उन्होंने भक्ति पूर्वक उनको पड़गा कर आहार दान दिया और अमित पुण्य का सचय किया। आहारदान देकर उनको यह निश्चय होगया कि हमारे अवश्य सतान होगी। ग्वाले मतिवरण ने उसी समय जो ग्रन्थ उसे जगल मे मिलेथे मुनिराज को भेंट किये। इस ज्ञान दान के प्रभाव से उस ग्वाले का ज्ञानावरण कर्म का बंध क्षीण होगया और आगे वह ही ग्वाला मर कर उन सेठ सेठानी के पुत्र हुआ। और यह ही आगे कुन्द-कुन्द स्वामी हुए।

एक दिन श्री मुनि गुणचन्द्रजी आचार्य महाराज का जिस ग्राम मे सेठ सेठानी रहते थे आगमन हुआ। सेठ और सेठानी पुत्र सहित मुनिराज की वदना को गये। वहा मुनि महाराज का देशना को सुनकर सेठ पुत्र को प्रतिबोध होगया और फिर वह घर नहीं लौटा।

माता पिता से आज्ञा लेकर दिगम्बर मुनि होगया। उन मुनि मलय देश के अन्तर्गत हेम ग्राम (पोन्नूर) के निकट स्थित नील गिरि पर्वत पर बड़ी भारी तपस्या की। वहां पर अभीतक उनके चरण बने हुए हैं।

इनका जन्म वि. सं. ५ में हुआ था और ग्यारह वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए थे। तेतीस वर्ष दिगम्बर मुनि अवस्था में रहे और पैंतालीस वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। इस प्रकार उनकी आयु नवासी (८९) वर्ष की थी।

इन्होंने विदेह क्षेत्र से सिद्धान्त तत्त्व का श्री सर्वज्ञ देव परम वीतराग सीमन्धर स्वामी से गवेषण कर जनता का अनेक ग्रन्थ रत्न बनाकर एवं उपदेश देकर परम उपकार किया एवं जैन धर्म को उद्योत किया।

विदेह क्षेत्र से आकर जो आपने ग्रन्थ रत्नों की रचना की थी उनकी नामावली इस प्रकार है:—

१ पंचास्तिकाय	२ समय प्राभृत	३ प्रवचन सार	४ पट् प्राभृत
५ अष्ट पाहुड़	६ रयणसार	७ द्वादशानुप्रेक्षा	८ नियमसार
९ जोणीसार	१० क्रियासार	११ आराहणासार	१२ लब्धिसार
१३ क्षपणासार	१४ बंधसार	१५ तत्त्वसार	१६ द्रव्यसार
१७ आलाप पाहुड	१८ चूलिया पाहुड	१९ सालमी पाहुड	२० क्रम पाहुड़
२१ पय पाहुड	२२ विद्या पाहुड़	२३ उद्योत पाहुड़	२४ दृष्टि पाहुड़
२५ सिद्धान्त पाहुड़	२६ तीय पाहुड	२७ चरण पाहुड़	२८ षट् दर्शन पाहुड़
२९ नामकम्म पाहुड़	३० समवाय पाहुड़	३१ नय पाहुड़	३२ प्रकृति पाहुड़
३३ चूर्णि पाहुड़	३४ पंचवर्ग पाहुड़	३५ कर्मविपाक पाहुड़	३६ वस्तु पाहुड़
३७ बुद्धि पाहुड़	३ संठाण पाहुड़	३९ निवाय पाहुड़	४० पयष्य पाहुड़
४१ उत्पाद पाहुड़	४२ दिव्य पाहुड़	४३ शिखा पाहुड़	४४ जीव पाहुड़
४५ आचार पाहुड़	४६ स्थान पाहुड़	४७ प्रमाण पाहुड़	४८ ऐयन्त पाहुड़
४९ विहेय पाहुड़	५० योगसार पाहुड़		

उल्लिखित ग्रन्थों में कुछका पता लगता है। इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थों की आपने रचना की नहीं, पता नहीं लगता।

सं. प्र,

दुर्भाग्य का विषय है कि उल्लिखित ग्रन्थों में से भी बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। जो भी उपलब्ध हैं उन सब में निवृत्ति मार्ग ओत प्रोत भरा है।

आप के पांच नामों का उल्लेख देखा जाता है जो इस प्रकार है:—

"आचार्यः कुन्द-कुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
ऐलाचार्यः गृध्रपिच्छः पद्मनंदीति तन्नुतिः ॥ १ ॥"

१ कुन्द-कुन्द २ वक्रग्रीव ३ ऐलाचार्य ४ गृध्रपिच्छ और ५ पद्मनंदी।

आपके समय में ऐलापुर तामिल ग्राम जो दक्षिण प्रान्त में है वह विद्या का केन्द्र था। वहां पर ही आपने एक "कुरल" नाम का ग्रन्थ बनाया था उसमें साम्प्रदायिक विषय न देकर ऐसा आध्यात्मिक विषय लिखा, जिससे वह ग्रन्थ उस देश में अभी तक वेद की तरह पूजा जाता है और उसे पांचवा वेद कहते हैं।

आप प्राकृत भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे। आपने जो भी ग्रन्थ बनाये हैं उनमें निवृत्ति मार्ग का बाहुल्य देखा जाता है। यदि यह भी कह दिया जावे तो बन सकता है कि वे निवृत्ति मार्ग के ही हैं। आप के सब ग्रन्थ प्रामाणिक हैं और बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात ६३४ वर्ष व्यतीत होनेपर विक्रम सं० ८४ में श्रीधरसेन नाम के गणी हुए। आप उज्जैन नगरी के पास चन्द्र गुफा में विराजमान थे। वहां पर आपको रात्रिमें ऐसा स्वप्न हुआ कि तुम्हारी आयु थोड़ी रह गई तथा श्रुत का विच्छेद होने वाला है। आपको क्षीण अंगका ज्ञान था।

(३३) श्री धरसेनगणी	क्षीणांगज्ञान	१९
	योग व. ६५३	१९

स्वप्न के परिणाम स्वरूप अपनी आयु के साथ श्रुत का विच्छेद जानकर आपने दक्षिणा देश से वेणाक तट पुर नामक स्थान से मुनि संघ में से दो मुनियों को बुलाकर पढ़ाया। उन दोनों का पुष्पदन्त और भूतवलि नाम रखा। जिस संघमें से उल्लिखित मुनियों को बुलवाया गया था उसी संघ के निमित्त ज्ञानवेत्ता भद्रबाहु मुनि थे, ऐसा एक आचार्य पट्टावली से पता चलता है। दूसरी पट्टावली में धरसेन गणी के

पश्चात् वीरनिर्वाण संवत ६६५ वि० सं० ११५ में भद्रबाहु स्वामी निमित्त ज्ञानी इसी मालव देश में हुए हैं ऐसा बताया गया है।

जब श्री धरसेनाचार्य पुष्पदन्त और भूतबली को पढ़ाने के कारण दक्षिण देश में चले गये तब इस देश में भद्रबाहु स्वामी निमित्त ज्ञानी रहे। इस प्रकार का कथन है।-

(३४) श्री पुष्प दन्त और भूतबलि क्षीण अंगधारी ३०

योग अं. ६८३ ३०

जिस संघ के स्वामी धरसेनजी गणी थे, भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी भी उसी संघ में थे। वीर निर्वाण सं० ६६५ था। किन्तु वीर निर्वाण सं० ६५३ मे श्री धरसेनाचार्य का समाधिमरण हो चुका था। ६६५ वीर निर्वाण संवत् में श्री धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि तथा भद्रबाहु मौजूद थे।

जिस समय अष्ट प्रकार निमित्त ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी मालव देश में विद्यमान थे उस समय मौर्य सम्राट् चन्द्र गुप्त द्वितीय का राज्य था।

(३५) स्वामी भद्रबाहु के समय वीर निर्वाण सं० ६६५ तथा विक्रम संवत ११५ में जैनों में दूसरी शाखा अर्धपालक निकली, ऐसा दर्शन सार शास्त्र में लेख मिलता है।

आठ प्रकार के निमित्त ज्ञान

अब अष्ट प्रकार के निमित्त ज्ञानों का दिग्दर्शन कराते हैं जिनके भद्रबाहु स्वामी पूर्ण रूप से ज्ञाता थे।

"अन्तरिक्षभौमांगस्वरव्यञ्जनलक्षणाः।
छिन्नस्वप्नविभेदेन प्रोक्तान्यागमवेदिभिः ॥ १८१ ॥ [उत्तर पुराण ६२ वां पर्व]

अर्थ—शास्त्रज्ञों ने निमित्त शास्त्र के अन्तरिक्ष २ भौम ३ अंग ४ स्वर ५ व्यञ्जन ६ लक्षण ७ छिन्न और ८ स्वप्न इस प्रकार आठ भेद बताये हैं।

अन्तरिक्ष निमित्त श्रुतज्ञान

"तात्स्थ्यात् साहचर्याद्वा ज्योतिषामंतरिक्षवाक् ।
चन्द्रादिपंचभेदानामुदयास्तमयोदिभिः ॥ १८२ ॥
जयः पराजयो हानिर्वृद्धिर्मृत्युः सजीवितः ।
लाभालाभौ निरूप्येते यत्रान्यानि च तत्त्वतः ॥ १८३ ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२]

अर्थ—चन्द्रादि ज्योतिषी देव अकाश में रहते हैं उनके संबन्ध एवं साहचर्य से जो ज्ञान होता है उसको अन्तरिक्ष निमित्त ज्ञान कहते हैं ।

सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र और तारे इन पांचों के उदय से एवं अस्त से जो जय–पराजय हानि-वृद्धि जीवन-मृत्यु और लाभ तथा अलाभ का निरूपण किया जाता है वह सब अन्तरिक्ष निमित्त श्रुत ज्ञान का विषय है ।

भौम निमित्त श्रुत ज्ञान

भूमिस्थानादिभेदेन हानिवृद्धयादिबोधनं ।
भून्यतेस्थितरत्नादिकथनं भौममिष्यते ॥ १८४ ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२]

अर्थ—भूमि और स्थान आदि के अन्तर एवं भेद से जो हानि और वृद्धि का ज्ञान करना है तथा पृथ्वी के अन्दर रखे हुए रत्नादि का ज्ञान करना है उसे भौम निमित्त श्रुतज्ञान कहते हैं ।

अंग निमित्त श्रुतज्ञान

अंगप्रत्यंगसंस्पर्शदर्शनादिभिरङ्गिनाम् ।
अंगकालत्रयोत्पन्नशुभाशुभनिरूपणम् ॥ १८५ ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२]

अर्थ—अंग-उपांग को स्पर्श करने अथवा देखने से जो प्राणियों के शरीर सम्बन्धी तीनों कालों में होने वाले शुभ तथा अशुभ का निरूपण किया जाता है उसे अंग निमित्त श्रत ज्ञान कहते हैं।

स्वर निमित्त श्रुतज्ञान

मृदंगादिगजेन्द्रादिकेतनेतरसुस्वरैः।
दुः स्वरैश्च स्वरोऽभीष्टानिष्टाप्रापणसूचनः ॥ १८६ ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२]

अर्थ—मृदगादि अचेतन तथा हाथी आदि चेतन पदार्थों के सुस्वर अथवा दुःस्वर शब्द एवं स्वरों द्वारा जो इष्ट और अनिष्ट के प्राप्त होने की सूचना होती है उसे स्वर निमित्त श्रुत ज्ञान कहते हैं।

व्यंजन निमित्त श्रुतज्ञान

शिरोमुखादिसंजाततिललक्ष्मव्रणादिभिः।
व्यञ्जनस्थानमानेश्य लाभालाभादिवेदनम् ॥ १८७ ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२]

अर्थ—सिर मुख आदि में उत्पन्न हुए तिल आदि चिह्नों से किसी स्थान को उद्देशकर लाभ-अलाभ आदि का जानना, व्यजन निमित्त श्रत ज्ञान है।

लक्षण निमित्त श्रुतज्ञान

श्रीवृक्षस्वस्तिकाद्यष्टशतांगगतलक्षणैः।
भोगैश्वर्यादिसम्प्राप्तिः कथनं लक्षणं मतम् ॥ १८८ ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२

अर्थ—श्रीवृक्ष, साथिया आदि जो एक सौ आठ लक्षण होते हैं उन्हें देखकर भोग ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति कहना, लक्षण निमित्त श्रुतज्ञान है।

छिन्न निमित्त श्रुतज्ञान

देवमानुषरक्षो विभागैर्वस्त्रायुधादिषु ।
मुसकाछिकृतच्छेदैः छिन्नं तत्फलभाषणम् ॥ १८६ ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२]

अर्थ—वस्त्र और आयुध आदि में जो चूहे आदि के द्वारा छिद्र कर दिये जाते हैं वे देव राक्षस और मनुष्य भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनको देखकर जो शुभ एवं अशुभ फल कहा जाता है उसे छिन्न निमित्त श्रुतज्ञान कहते हैं।

स्वप्न निमित्त श्रुतज्ञान

शुभाशुभविभागोक्तस्वप्नसंदर्शनान्नृणां ।
स्वप्ना वृद्धिविनाशादियाथात्म्यकथनं मतः ॥ १६० ॥ [उत्तर पुराण पर्व ६२]

अर्थ—शुभ और अशुभ स्वप्नों के देखने वृद्धि एवं विनाशादि का ठीक २ कथन करना स्वप्न निमित्त श्रुतज्ञान कहलाता है।

एकदिन निमित्तज्ञान दिवाकर यह श्री भद्रबाहु स्वामी अनेक जिन मन्दिरों से शोभायमान जिन धर्म वत्सल श्रावक और श्राविकाओं से विभूषित धर्म और दान मे रत प्राणियों से रमणीक अवन्ती देशमें पधारे। उस समय वहां पर महामनोज्ञ चन्द्रोज्ज्वल यश से शोभायमान जिन पूजा परायण प्रताप स जाज्वल्यमान नीतिज्ञ और परम शूर (द्वितीय) × चन्द्रगुप्त नाम का राजा प्रजा का शासन करना था। उसके चन्द्र ज्योत्स्ना के समान रूप लावण्यादि से रमणीक चन्द्रश्री नाम की पटरानी थी। इस रानी की कुक्षिसे बिन्दुसार नाम के राजकुमार का जन्म हुआ था।

एक समय राजा चन्द्रगुप्त ने रात्रि के पिछले प्रहर में निम्न लिखित १६ सोलह स्वप्न देखे और उनके शुभाशुभ फल की जिज्ञासा से भद्रबाहु स्वामी (जो निमित्त ज्ञान के अद्वितीय ज्ञाता थे) के पास गये और प्रार्थना की महाराज ! मैंने रात्रि के पिछले

× भद्रबाहु नाम के आचार्य तीन हुए हैं तथा इसी प्रकार चन्द्र गुप्त नाम के राजा भी दो हुए हैं। प्रथम भद्रबाहु के समय प्रथम चन्द्र गुप्त थे। उस समय के भी जैन दर्शन एवं शिलालेख मिलते है और द्वितीय चन्द्र गुप्त के समय के भी। दूसरे चन्द्र गुप्त के जोकि दूसरे भद्रबाहु के समय हुए है लेखादि मिलते हैं। किन्तु १६ सोलह स्वप्न देखने के समय ये दूसरे चन्द्र गुप्त तथा दूसरे ही निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु थे।

प्रहर में जो १६ सोलह स्वप्न देखे हैं उनका फल कृपा करके बतलाइये। तब श्री भद्रबाहु स्वामी निम्न लिखित स्वप्नों का क्रम से फल वर्णन करते थे —

(१) कल्प वृक्ष को डाली टूटी हुई देखी। फल—क्षत्रिय मुनिव्रत नहीं लेवेंगे।

(२) सूर्य अस्त होते देखा। फल—मुनियों को द्वादशांग का ज्ञान नहीं होगा।

(३) देवों के विमान पीछे लौटते देखे। फल—इस क्षेत्र में चारण मुनि विद्याधर और देव अब नहीं आवेंगे।

(४) बारह फणों वाला सर्प देखा। फल—बारह वर्ष का महा दुष्काल पड़ेगा।

(५) छिद्रवाला चन्द्रमा देखा। फल—जैन धर्म में अनेक सम्प्रदाय होंगे।

(६) दो श्यामवर्ण के हाथियों को लड़ते देखा। फल—समय पर वर्षा नहीं होगी।

(७) खद्योत (आगिया) को चमकते देखा। फल—जैन धर्म का सम्यक् प्रकार से विस्तार नहीं होगा, किसी २ समय पर किसी देशमें या किसी २ जाति में प्रचार रहेगा।

(८) एक बड़ा भारी सरोवर देखा परन्तु उसके एक भाग मे जल भराथा और शेष सूखा था। फल—जैन तीर्थों में श्रावकों का अभाव रहेगा।

(९) हाथी पर बन्दर बैठा देखा। फल—शूद्रों में राज्य सम्पदा होगी।

(१०) सोने के थाल में कुत्ते को खीर खाते देखा। फल—विशेषतः लक्ष्मी का निवास नीच जाति में रहेगा।

(११) राज पुत्रों को ऊँटों पर सवार होते देखा। फल—राजा मिथ्यात्व मत के उपासक और जैन मत के द्वेषी होंगे।

(१२) घूरे में खिला कमल देखा। फल—वैश्य जैन धर्मानुयायी होंगे।

(१३) सागर को मर्यादा रहित देखा। फल—राजा लोग नीतिमार्ग का लंघन कर अन्याय करेंगे।

(१४) बड़े रथ में छोटे बच्चे जुते देखे। फल—मनुष्य बालक अवस्था में धर्म साधन करेंगे, वृद्धावस्था में छोड़ देवेंगे।

(१५) रत्नों की राशि पर धूल चढ़ी देखी। फल—संयमी जहां एकत्रित होवेंगे वहां ही कलह होगा और अनर्थ करेंगे एवं परस्पर मिलकर न रह सकेंगे।

(१६) यक्ष और भूत नाचते देखे। फल—लोग जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं करेंगे किन्तु कुदेवों की भाव भक्ति और पूजा करके यक्ष पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि को मनावेंगे।

राजा चन्द्रगुप्त ने श्री भद्रबाहु से इस प्रकार स्वप्नों का फल सुनकर अपने पुत्रों को राज्यभार देकर दिगम्बर साधु की दीक्षा—ग्रहण करली और आत्मविशुद्धि तथा धर्म साधन करने लगे। तथा स्वामी भद्रबाहु के पास रहने लगे।

अनन्तर एक दिन श्री भद्रबाहु स्वामी आहारार्थ नगर में पधारे। वहां पर जिनदास सेठ ने स्वामी का पड़गाहन किया और उच्चासन दिया। उनके घर में एक ६० दिन का बालक पालने में झूलरहा था। वह अपनी वाणी से जाओ जाओ जाओ जाओ। यह आवाज बालक की मुनिराज ने सुनी, और आश्चर्य युक्त होकर पूछा कि हे बालक! कहो कितने वर्ष तक? तब बालक ने उत्तर दिया कि बारह वर्ष तक। उधर राजा चन्द्र गुप्त ने भी बारह वर्ष के अकाल का सूचक बारह फण का सर्प देखा था। अतः मुनिराज ने पूर्ण रूप से निश्चय कर लिया कि यहां पर अब रहना ठीक नहीं है। क्योंकि यहां अब बारह वर्ष का अकाल पड़ेगा। इस प्रकार की दुर्घटना को समझ आहार में अन्तराय होजाने के कारण वे वनमें चलेगये। उनने २४ ०० चौबीस हजार मुनि जो उनके साथ थे उन सबको बुलाकर कहा कि यहां पर अब रहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहां बारहवर्षी अकाल पड़ने वाला है। उस अकाल के कारण तप और संयम के नाश होने की संभावना है। अतः इस देश में साधुओं का रहना उचित नहीं है। अन्यत्र चलना ही समुचित रहेगा। मुनि श्री भद्रबाहु स्वामी जो कि संघ के सर्वोच्च आचार्य थे उनके आदेश को मुनि चन्द्रगुप्त तथा अन्य सब मुनियों ने स्वीकार करलिया और अन्यत्र चलने को तैयार होगये।

अनन्तर मुनि संघ का कर्णाटक देशकी ओर विहार होने वाला है, यह समाचार नगर के प्रधान सेठ कुबेरमित्र, जिनदत्त, और बिन्दुदत्त आदि ने सुना तो श्री भद्रबाहु के समीप आये। मुनिराज ने जो बात उन्हें निमित्त ज्ञान से प्रतीत हुई थी उसको बताकर उनको शान्त कर दिया और वे चलेगये।

अनन्तर वे सेठ दूसरे साधुओं के पास जाकर प्रार्थना करने लगे कि हे भगवान्! हमारे पास इतना अन्न है कि यदि सौ वर्ष तक का भी दुष्काल हो जावे तो भी वह अन्न समाप्त नहीं होगा। अतः आप विहार न करें। इस प्रकार से उनके प्रार्थना करने पर

रामल्याचार्य और स्थूलाचार्य ने भाग्य वश वहां ही रहना स्वीकार कर लिया और उपरान्त १२००० (बारह हजार) मुनि उज्जैन में ही रहे। शेष १२००० (बारह हजार) मुनियों सहित श्री भद्रबाहु स्वामी ने कर्णाटक देश की तरफ विहार कर दिया।

तदन्तर विहार करते २ स्वामी एक गहन वनमें पहुंचे। वहां उन्होंने आश्चर्यकारिणी एक आकाशवाणी सुनी। उससे अपनी आयु का अन्त समीप जानकर सब मुनियों से कहा कि मेरी आयु का अन्त समीप आगया है। अतः आपलोग आजसे विशाखाचार्य के आदेश मे रहो। मै इनको अपने स्थान नियुक्त करता हूँ, और मैं यहां वन ही मे रहता हूँ। तब मुनि सघ ने स्वामीजी की आज्ञानुसार विशाखाचार्य को सब गुणों मे योग्य समझ कर अपना आचार्य स्वीकार कर लिया और वह शेष मुनि सघ उनके साथ कर्णाटक देश को चला गया। केवल मुनि चन्द्रगुप्त उनकी सेवा में वनमे रहे।

अनन्तर श्री विशाखाचार्य आदि तो मार्ग मे ईर्यासमिति से विहार करते २ भव्यजीवों का कल्याण करते हुए चोल देशमें पहुचगये। इसके बाद यहां जो वृतान्त हुआ वह नीचे लिखा जाता है।

उस गहन वन मे विशुद्धात्मा योगेश श्री भद्रबाहु स्वामी ने मन वचन और कायकी प्रवृत्ति रोककर सल्लेखना विधि धारण करना समुचित समझा। परिचर्या के लिये नवदीक्षित चन्द्रगुप्त ही थे।

मुनि चन्द्रगुप्त ने वन मे श्रावकों के अभाव होने के कारण उपवास करना प्रारंभ कर दिया। यह देखकर भद्रबाहु स्वामी ने चन्द्र गुप्त से कहा कि हे वत्स! निराहार रहना ठीक नही है। इसलिये तुम आहार के लिये वन मे ही जावो, क्यों कि जैन सिद्धान्त की ऐसी आज्ञा है कि समय पर साधु को चर्या के लिये जाना चाहिये जिससे प्रतिदिन उपवास न हो।

अनन्तर चन्द्र गुप्त मुनि गुरु की आज्ञानुसार गोचरी के लिये जगल में जाने लगे। एकदिन उसी वन मे एक वन देवी ने एक वृक्ष के नीचे उत्तम २ पदार्थों से भरी हुई एक थाली मुनिराज को दिखाई। चंद्रगुप्त मुनि को विना मनुष्य सचार के और विना दाता के उस भक्ष्य पदार्थों से भरी थाली को देखकर प्रथम बड़ा आश्चर्य हुआ और फिर दाता के विना ग्रहण करना मुनि धर्म से प्रति कूल है ऐसा विचार कर विना आहार ग्रहण किये गुरुजी के पास चले आये और सब वृत्तान्त सुनाया। उन्होने मुनि धर्म से प्रतिकूल आहार न लेने के कारण उनकी मुनि धर्म मे दृढ़ता देखकर बहुत प्रशंसा की।

अनन्तर इसी प्रकार जब दो तीन दिन व्यतीत होगये परन्तु मुनि मार्ग से प्रतिकूल उन्होंने आहार नहीं लिया तो उस वनदेवी ने श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर उसी वनमे एक धन से परि पूर्ण नगर बसाया। चौथे दिन मुनि चन्द्र गुप्त ने उस नगर को देखा और

वहां पर श्रद्धा युक्त नवधा भक्ति एवं विधि पूर्वक दिया हुआ आहार ग्रहण किया। और गुरुजी के पास जाने पर उन्होंने जब पूछा कि आज तुम्हारा अन्तराय रहित पारणा होगया तब उन्होने कहा कि नगर में अन्तराय रहित पारणा होगया। स्वामी भद्रबाहु ने उनकी इस दृढ़ता की बहुत प्रशंसा की और मुनि चन्द्रगुप्त उसी नगर में आहार लेते रहे तथा स्वामी भद्रबाहु की सेवा करते रहे।

अनन्तर स्वामी भद्रबाहु सप्त भयों से रहित क्षुधा तृषा आदि अनेक उपद्रवों को जीत कर चार आराधना के धारक होकर समाधि पूवक इस अविनश्वर शरीर को छोडकर स्वर्ग में देव हुए।

संसार में गुरु भक्ति से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। गुरु-भक्ति बडी महिमा है। कहा भी है—

"सम्यक्त्वी कोढ़ी भलो जा के देह न चाम।
विना देव गुरु भक्ति के स्वर्ण देह निष्काम॥"

आगे जो मुनिराज भद्रबाहु की आज्ञा का उल्लंघन कर जिनदत्तादि श्रेष्ठियों की प्रार्थना पर रामल्याचार्य एवं स्थूल भद्राचार्य के साथ उज्जैन ठहर गये थे उसका वृत्तान्त वर्णन किया जाता है।

स्वामी भद्रबाहु के दक्षिण की तरफ विहार करने के बाद अवन्ती देश मे भीषण अकाल पड़ा। एक २ ग्रास भोजन के लिये मनुष्य दूसरे के प्राणों को अपहरण करने पर उतारु होगये। यहा तक कि माता भी भूख से पीडित होकर पुत्र का भक्षण करने लग गई। ऐसी कठिन परिस्थिति में मुनियों को आहार प्राप्त करने की तथा श्रावकों को आहार दान देने की बडी भारी असुविधा हो गई।

एक समय रामल्याचार्य आदि मुनिराज आहार लेकर वापिस वन को जारहे थे। उन में से एक मुनि पीछे रहगया उनका भराहुआ उदर देखकर क्षुधा पीड़ित जन समुदाय उनके पीछे पडगया और उनका पेट चीरकर अन्न निकाल कर खागया। इसी प्रकार और भी बहुत सी भयंकर घटनाओं की संभावना समझकर श्रावकों ने जाकर मुनियों से प्रार्थना की कि हे भगवान्! यह समय बड़ा भयंकर है, भीषण अकाल पड़रहा है। अतः आप हमारी प्रार्थना को स्वीकार करके नगर मे रहो जिससे धर्म पूर्ण रूप से पालन किया जासके। आप शुद्ध ज्ञान के धारक निर्ममत्व साधु हैं। आप को जैसा हो वन जैसा ही नगर और वैसा ही श्मशान, सभी सामान्य है।

अनन्तर देश काल की परिस्थिति पर विचारकर मुनि संघ ने उनकी शहर मे रहने की प्रार्थना स्वीकार करली और गृहस्थ बड़े उत्सव के साथ उनको नगर में लेगये।

अनन्तर जब नगर में भी साधु चर्या को जाते थे उससमय भूखे अकाल से पीडित पुरुष उनके पीछे लग जाते थे "और हम बहुत भूखे हैं मर रहे हैं हमपर दया करो" आदि करुणा पूर्ण शब्दों द्वारा आर्तनाद करते थे। साधु लोग इन लोगों की रुकावट से आहार को नहीं जा सकते थे। यदि किसी। गृहस्थ के यहां साधु पहुंच भी जाते थे वहां बुभुक्षित प्राणियों के सत्राद मे गृहस्थ दाताओं के दर्वाजे बंद पाये जाते थे। मुनि अन्तराय समझ कर वापिस लौट आते थे। ऐसी परिस्थिति देखकर गृहस्थों ने मुनि संघ से पुनः प्रार्थना की—

हे भगवन्! इस भयंकर समय में बुभुक्षितों के भय से हम भोजन दिन में नहीं बना सकते हैं अतः आप रात्रि को भोजन ले आया करें और अपने स्थान पर भोजन कर लिया करें। इस कराल काल के व्यतीत होने पर फिर उसी प्रकार की क्रिया कर लिया करना। मुनियों ने इस बात को भी स्वीकार कर लिया और तूम्बे के पात्र तथा कुत्तों को ताड़ने आदि के लिये एक हाथ मे दण्ड भी रखना प्रारंभ कर दिया। अनन्तर मुनि लोग गृहस्थों के घरों से आहार ले आया करते थे और घर के द्वार बंद करके खिडकियों में बैठकर खा लिया करते थे।

इसके बाद एक समय एक क्षीण नग्न दिगम्बर साधु भोजन लेने को गया उसको देखकर यशोभद्र सेठ की सेठानी डर कर गिर पड़ी, जिससे उसका गर्भ पात होगया और उससे घर में हा हा कार मचगया। मुनि उसी समय लौट आये।

अनन्तर सब श्रावक एकत्रित होकर मुनि संघ के पास आये और प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभो! विनय के साथ निवेदन है कि आप कृपा करके जब तक इस दुर्भिक्ष का कोप है शरीर को आच्छादन करने के लिये एक २ कम्बल और धारण कर लीजिये जिससे स्त्रियां तथा बालक न डरें एवं धर्म की साधना भी बनी रहे। मुनि संघ ने उनकी इस प्रार्थना को भी स्वीकार कर लिया। और भी इसी प्रकार शनैः २ शिथिलाचार बढ़ता चला गया तथा साधु लोग क्रियाओं से भ्रष्ट होगये। काल की करालता क्या २ नहीं करा लेती।

जब दुष्काल के बारह वर्ष का समय व्यतीत होगया। बड़े जोर से वर्षा हुई। सब लोग सुखी हुवे। देश में सुभिक्ष होगया। तब श्री विशाखाचार्य कर्नाटक देश से विहार करते २ उत्तर प्रान्त में आगये और स्वामी भद्रबाहु के समाधि स्थान के पास ठहरे। वहां पर स्वामीजी की समाधि एवं चरण पादुका बनी हुई थी उनको नमस्कार किया; उस समय वहां चन्द्र गुप्त मुनि थे उन्होंने श्री विशाखाचार्य को नमस्कार किया। किन्तु विशाखाचार्य ने प्रत्युत्तर नहीं दिया कारण कि उनको इस बात का संदेह होगया कि यहां पर श्रावक तो हैं ही नहीं फिर इसने आहार कैसे किया होगा। अतः यह अवश्य चारित्र भ्रष्ट होगया होगा यह समझकर प्रतिवन्दना भी नहीं की।

अनन्तर मुनि चन्द्र गुप्त ने उस समीपवर्ती नगर में भोजन के लिये श्री आचार्य महाराज विशाखाचार्य से विशेष आग्रह और प्रार्थना की तब सब मुनि वहां आहारार्थ गये। वहां पर एक वृद्ध ब्रह्मचारी किसी गृहस्थ के घर कमण्डलु भूल आया। याद आने पर जब लेने गया तो वहां एक वृक्ष की डाली पर वह कमण्डलु मिला। नगर आदि की रचना सब विनस गई। तब सब समाचार स्वामी विशाखाचार्य से

कहा सब वृतान्त का पता लगने पर चन्द्रगुप्त सहित संघ मनुष्यों ने प्रायश्चित्त किया और अवन्ती देश की तरफ विहार कर उज्जैनी शहर में पहुंचे। इनके। बाद मुनि श्री विशाखाचार्य को मुनि संघ सहित कर्णाटक देश से आया जान कर रामल्या तथा स्थूलभद्राचार्य ने अपने शिष्य इनके पास भेजे। उन्होंने स्वामी विशाखाचार्य को वंदना की, किन्तु मुनि श्री विशाखाचार्य ने उनका वेष आदि विरुद्ध देख कर प्रतिवंदना नहीं की और पूछा कि आप लोगों ने यह क्या स्वरूप बना लिया है? आपको प्रायश्चित्त लेकर अपना पुरातन वेष ही स्वीकृत कर लेना समुचित है। तब शास्त्रोक्त दण्ड ले कर अनेक साधुओं ने पुरातन वेष ही ग्रहण कर लिया किन्तु थोडे से साधुओं ने दिगम्बर मुद्रा की कठिनता समझ कर उस नवीन वेष को ही अपनाये रक्खा। उन्हें ज्यों २ समझाया गया त्यों २ कषाय बढ़ने लगी। यहां तक कि कुछ शिष्यों ने स्थूल भद्र को खूब मारा और वे आर्त परिणाम से मर कर व्यन्तर देव हुए। और अपने शिष्यों को अनेक उपद्रवों द्वारा व्याकुल कर दिया। तब उन्होंने इनका हड्डियों को इष्ट देव बनाकर पूजना प्रारम्भ कर दिया और उनकी हड्डियों को गले में लटका कर उपदेश दिया कि मुर्दे की हड्डियों को तीर्थों में भेजा करो, जिससे अपने पूर्वजों को सुख और शान्ति प्राप्त हो। आज तक भी कई श्रावक हड्डियों को कुल देव के नाम से पूजते हैं और उन्हें गहोजा कहते हैं। यही स्थूल भद्राचार्य व्यन्तर देवकी पूजा है। इस प्रकार पूजा करने से यह देव शान्त होगया और उन लोगों ने कम्बल दण्ड और पात्र रखना प्रारम्भ कर दिया। इनका नाम अर्धफालक था। इन्होंने जिनेन्द्र भगवान् के वास्तविक सूत्रों से विपरीत कल्पना करके अनेक सूत्र बनाये मिथ्या कल्पना करके व्रती और योगी बने। दिगम्बर मत से मुख मोड़ लिया। सिद्धान्त विरुद्ध अनेक ग्रन्थ रचकर अपने सम्प्रदाय की पुष्टि की। और निम्न लिखित आशय वाली बातों की प्रकार प्ररूपणा करने लगे।

(१) भगवान् महावीर का गर्भ हरण हुआ।

(२) केवली भगवान समव सरण में साधुओं का लाया हुआ भोजन करते हैं कवलाहारी हैं।

(३) भगवान् ऋषभ देवने एक जुगलिया की स्त्री को अपनी रानी बनाया।

(४) भरत चक्रवर्ती ने अपनी बहिन सुन्दरी को अपनी रानी बनाने के लिये कितने ही दिन तक दीक्षा नहीं लेने दी।

(५) साधुओं के २७ मूलगुण और महाव्रत पालना चाहिए। सर्व परिग्रह का त्याग कर ४ उपकरण रखना सो परिग्रह नहीं है।

(६) रजः स्वला स्त्री को धर्म से हानि नहीं यह तो कुल वर्द्धक बात है।

(७) साधु देव धर्म और गुरु का उपसर्ग दूर करे और चक्रवर्ती के कटक को हरे तो पाप नहीं है।

(८) साधु १२ जाति की गोचरी ले सकता है।

(६) साधु के पात्रा में दातार देवे वह भोजन साधु कर लेवे। साधु को मांस खाने की इच्छा हो तो मांग सकता है। अगर उसमे हड्डी आजावे तो निकाल लेवे।

(१०) शूद्रों और स्त्रियों को भी मोक्ष हो सकता है।

(११) विना संयम लिये भी केवल ज्ञान हो सकता है, जेसे मरुदेवी माता को हुआ था।

(१२) जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक पञ्चामृत से करना और आभूषण पहराना बतलाया है और अ'गी करना केशर पुष्प लगाना आदि।

(१३) रात्रि मे पूजन और अभिषेक एवं रोशनी आदि भी करना शास्त्र सम्मत है।

इस प्रकार की अनेक स्वाथ प्रधान बातें लिखकर ११ अ'ग और चौदह पूर्व के नाम से नये ग्रन्थ बनाये। और महावीर भगवान ने गौतम स्वामी से इस प्रकार फरमाया आदि लिखकर विशेष प्रमाणता दिखलाई।

जिस समय इस अर्ध फालक का प्रचार एव उत्पत्ति हुई थी उस समय मालवा प्रान्त की उज्जैन नगरी में चन्द्रकीर्ति नाम का राजा राज्य करता था। उनके चन्द्र श्री नाम की पटरानी थी। उन रानी को कुक्षिसे एक चन्द्र लेखा नामकी बुद्धिमति सुशीला एवं अत्यन्त सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई थी। वह कन्या उज्जैन मे अर्धफालक मत के संचालक साधुओं से अध्ययन करती थी और उन्हीं में इस की बड़ी भारी भक्ति एवं श्रद्धा थी। कुछ दिन बाद जब यह विवाह योग्य होगई तो इसका विवाह वल्लभी पुर के राजा प्रजा पाल के लड़के लोक पाल के साथ होगया।

एक समय रानी चन्द्रलेखाने अपने पति राजा लोक पाल से अपने गुरुओं की बहुत प्रशंसाकी और उनको अपने देश में बुलवाने के लिये प्राथना की।

अनन्तर राजा ने राजद्वार की तरफ से अर्धपालक महापुरुषों को बुलवाने के लिये बहुत से आदमी भेजे। और वे अत्यन्त आग्रह पूर्वक उनको सोरठ देश की तरफ ले आये। जब रानो को पतालगा कि मेरे गुरु आगये, तब राजा को बड़े ठाठ बाट से उनके लेने के लिये भेजा। राजा जब उनकी अगवानी के लिये गये और उनकी नग्न अवस्था न देखकर एवं कबलादि देखे तो बहुत नाराज हुवे और

कहने लगेकि यह पाखंड कैसा है ? इन्होंने दिगम्बर अवस्था छोड़कर कपड़े क्यों धारण कर रखे हैं। रानी बड़ी चतुर थी। राजा के भाव को तुरत समझगई। और एकान्त में लेजाकर राजा को समझाया एवं चतुरता से कार्य लिया कि राजा उनको अगवानी करने के लिये समुद्यत होगये एवं उनको महोत्सव सहित नगर में ले आये। संसार में स्त्री के वशीभूत पुरुष क्या २ नहीं करते ? सब कुछ कर बैठते हैं।

अनन्तर रानी ने बड़े आग्रह पूर्वक उन्हें वस्त्र तथा पात्रे आदिदिये जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

अनन्तर रानी ने बड़े आग्रह पूर्वक उन्हें वस्त्र तथा पात्रे आदिदिये जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। और जब यह संघ वल्लभी पुर गया और यहां कपड़े

जिस समय अर्धपालक मत निकला था उस समय विक्रम सं॰ ११५ था और जब यह संघ वल्लभी पुर गया और यहां कपड़े धारण करने के कारण श्वेताम्बर कहलाने लगा उस समय वि० सं० १३६ और वीर निर्वाण सं० ६८६ था। आजकल यही अर्धफालक मतानुयायी श्वेताम्बर कहलाते हैं। और इस सम्प्रदाय के साधु १४ चौदह उपकरण रखते हैं। [भद्रबाहु चरित्र से उद्धृत]

दिगम्बर सम्प्रदाय में जो पचामृताभिषेक की प्रथा चली है वह वि० सं० १३६ के बाद अर्थात् वीर निर्वाण स० ६८६ से श्वेताम्बर सम्प्रदाय से ही आई है। श्वेताम्बर संप्रदाय में एक "पद्मुमचरिअ" नामक ग्रन्थ में पञ्चामृताभिषेक का कथन मिलता है। उसकी रचना का समय वीर निर्वाण सं० ५३० और वि० सं० ६० का बतलाते हैं। यह कथन यथार्थ प्रतीत नहीं होता।

दिगम्बर सम्प्रदाय के भोले जीवोंने 'पद्मुम चरिअ' को वि० सं० ६० की रचना तथा स्व सम्प्रदाय का ग्रन्थ मान कर अपना लिया है। एवं भगवान् के चरणों के ऊपर केशर तथा पुष्प चढाने लगे हैं। तथा पंचामृताभिषेक करने लग गये हैं। पंचम काल के कराल कोप से भगवान को परिग्रह सहित करने की तथा हिंसा पोषक एवं हिंसा के कारण भूत पंचामृताभिषेक प्रथा शुद्ध दिगम्बरों में भी होगई है। यह सब आडम्बर शिथिलाचारी भ्रष्ट पण्डितों तथा पांतलों से हुआ है।

"पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मल मलिनीकृतम् ॥ १ ॥"

अर्थ—भ्रष्ट पण्डित और साधुओं से जिन शासन मलिन हुआ है।

अब हम आगे इस बात को युक्ति पूर्वक तथा इतिहास से सिद्ध करके दिखायेंगे कि पंचमृत अभिषेक श्वेताम्बर सम्प्रदाय से आया है और श्वेताम्बर सम्प्रदाय दिगम्बर मत से पीछे का है एवं दिगम्बर सम्प्रदाय के जो वि० सं० १३६ से पहले के ग्रन्थ हैं उनमें पंचामृता

भिषेक का विधान नहीं है। १३६ वि० सं० में जब श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति होगई थी उसके पीछे से दिगम्बर सम्प्रदाय, में भी यह पंचामृताभिषेक लिख दिया गय है

दिगम्बर मत की प्राचीनता

"संघ सहित श्री कुन्द कुन्द गुरु वन्दन हेत गये गिरनार।
वाद पर्यो तहँ संशय मत सों स ची भई अम्बिकाकार ॥
सत्यपंथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर कह्यो सुरी तहँ प्रकट पुकार।
सो गुरु देव बसो उर मेरे विघन हगे मंगल करतार ॥ १ ॥"

एटा निवासी श्री कामता प्रसादजी के लेखानुसार एक समय निम्न लिखित सख्या में दिगम्बर संघ तीर्थ राज गिरनार को वंदनार्थ गया था। × उसमे ५६४ दिगम्बर साधु थे, ६४२ आर्यिकायेंथी, ८३१ श्रावक तथा १२७२ श्राविकायें तथा सेवक आदि थे। उन्हीं दिनो मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी एक बड़ा भारी संघ तीर्थ राज गिरिनार को वंदनार्थ गया था। पर्वतराज की वंदनार्थ दोनों संघ एक साथ ही पहुंचे थे। दोनों मे परस्पर यह विवाद हो गया कि जो संप्रदाय प्राचीन होगा उसकाही संघ प्रथम वंदना करेगा और इसका निर्णय पर्वत पर जो अम्बिका देवी है उसके द्वारा होगा। उस अम्बिका देवी मूर्ति से बुलवाने का काम दि० सम्प्रदाय के मुनि कुंद कुन्द ने अपने हाथ में लिया और पाषाण की मूर्ति को पीठ पर हाथ रखकर कहा कि दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायों में प्राचीन मत कौनसा है? तब उस पाषाण की मूर्ति मे से शब्द हुआ कि आदि दिगम्बर ही है। निर्णयानुकूल दिगम्बरों ने तीर्थ राज की प्रथम वंदना की थी।

प्रथम मुनि कुन्दकुन्द का इतिहास हम ऊपर लिख चुके हैं। यहा पर दूसरे कुन्दकुन्द का कथन करते हैं।

द्वितीय श्री मुनि कुन्दकुन्द का समय वि० स० २२५ से पीछे वीर नि० स० ७७५ था। वर्तमान समय में कोटा रियासत के अन्तर्गत (हाड़ौती राज्य) बारा स्टेशन है। वहां पर पूर्व की ओर किशनगंजरोड है। वहां पर एक नशियांजी अभी तक बनी हुई है।

× ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई के गुटके में हमने सघ की संख्या निम्न प्रकार से देखी है। पाठक विचार करें ७०० मुनि, १४०० आर्यिकायें ३५००० (पैंतीस हजार) श्रावक तथा ७०००० (सत्तर हजार) श्राविकायें और इन के अतिरिक्त बहुत से नौकर चाकर गाड़ी घोड़ा ऊँट वगैरह थे।
सं. प्र.

जिसमें उन स्वामी कुन्द कुन्द मुनि का समाधि स्थान बना हुआ है। उस समय इस नगर के राजा कुमुदचन्द्रजी थे और नगर सेठ कुन्दजी थे। उनकी सेठानी का नाम कुन्दलता था। उनके सुपुत्र का नाम कुन्दकुन्द था। इन को पुण्योदय से बाल्यावस्था मे मुनिजों का सम्बन्ध होने से संयम धारण की रुचि होगई थी और फिर लघु अवस्था में ही मुनि पद धारण कर लिया था। अनेक देशों में विहार करते २ आप की तीर्थ राज गिरनार के वंदनार्थ इच्छा हुई तथा वंदनाको गये थे। ये कुन्द कुन्द मुनि विदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी के दर्शनार्थ जाने वाले नहीं थे, उनसे पृथक् थे।

द्राविड संघ की उत्पत्ति

अनन्तर विक्रम सं० ५२६ में स्वामी देव नन्दी के एक शिष्य पूज्य पादाचार्य थे। जिनका दूसरा नाम वज्रनन्दी भी था। आप महाप्राभृतों के पाठी थे। आपने हठात् समाधि ली, आयु के शेष से मरण नहीं हुआ। फिर भ्रष्ट होगये। कोई प्रायश्चित्त भी नहीं लिया। शास्त्रज्ञ और तपस्वी होकर भी आगम विरुद्ध कार्य करने लगे। नये २ प्रायश्चित्त प्ररूपक तथा अन्यान्य ग्रन्थ बनाये और अपने संघ का द्राविड संघ नाम रखा। द्राविड संघमतानुयायियों ने पार्श्वनाथ स्वामी की सर्पफणा वाली प्रतिमा मानी। तथा कुछ समय के लिये प्रतिमाको वस्त्राभरण धारण करना भी प्रतिपादन किया। साधु खेती कर सकते हैं, कच्चा पानी काम में ला सकते हैं। ऐसा बतलाया। प्रासुक और अप्रासुक विभाग का लोप कर दिया और कहा न तो बीज में जीव और न बीज योनि भूत ही है। मुनियों को बैठकर आहार लेने का तथा वसतिका बनवाने का निरूपण किया। इसके उपरान्त यह भी कहा कि साधु वसतिका आदि को काम में भ ला सकता है।

यापनीय संघ की उत्पत्ति

अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शुक्लाचार्य थे। उनका एक श्री कलश नाम का शिष्य था। वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय को छोड़कर दिगम्बर सम्प्रदाय में आगया। और उसने वि० सं० ७०५ में और एक नया सम्प्रदाय एवं संघ निकाला जिसका नाम यापनीय संघ रखा। इन्होंने भगवान को मुकुट कुण्डल और गले मे हार पहराने तक का, रात्रि में पूजन पंचामृताभिषेक, केशर पुष्प और दाल भात चढाने तक का प्रतिपादन किया।

काष्ठासंघ की उत्पत्ति

इस संघ के पश्चात वि० सं० ७५३ में काष्ठासंघ की उत्पत्ति हुई। और भगवान् कुन्द कुन्द के समय के पश्चात इस संघ के कई साधु महा शक्तिशाली प्राभृतों के पाठी और आत्मज्ञानी हुए। अन्तिम समय में श्री मुनि वीरसेन तथा वैसे ही उनके शिष्य

जिन सेन आचार्य हुए। ये अनेक शास्त्रो के ज्ञाता और (सेन-देव-सिंह और नन्दी) चारों संघों के उद्धार करने में समर्थ हुए। इनके पश्चात् विशेषज्ञ विनय सेन नि हुए। इनके गुण भद्र और कुमार सेन नाम के दो शिष्य हुए। उन्होने गुरु आज्ञा से विमुख होकर संन्यास लेलिया और भ्रष्ट होगये। गुरु जी भी नन्दी तट गांव में विद्यमान थे। अतः अपने मनोनुकूल ग्रन्थों की रचना की एवं तदनुकूल उपदेश दिया। उन ने सब से प्रथम देव पूजन की प्ररूपणा की। वहां पर प्रतिमा नथी, अत. पूजन किस की हो सकती थी। बिना प्रतिमा कार्य नहीं चल सकता था। पाषाण का प्रतिमा देर में बनती। अतः उत्तम काष्ठ की प्रतिमा बनवाई और कहा कि बिना पूजन तथा दान के श्रावक नहीं हो सकता।

जैसे कहा भी है—

"दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मेण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइ धम्मे तं विणा तहा सोवि ॥ ११ ॥
जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्ति रूवेण।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो होइ मोक्ख मग्गरओ ॥ १२ ॥" [रयणसार]

तात्पर्य—श्रावक के लिये दान देना तथा पूजा करना मुख्य कर्तव्य है। बिना पूजा और दान के श्रावक धर्म नहीं होता है। जो अपनी शक्ति के अनुसार जिन भगवान् की पूजा तथा मुनि के लिये आहारदान करता है वह ही सम्यग्दृष्टि श्रावक मोक्ष मार्ग में लगा हुआ है।

अनन्तर उस काष्ठ की प्रतिमा की बड़े उत्सव एवं समारोह के साथ प्रतिष्ठापना और पूजा कराई। उस दिन से श्रावक और श्राविकायें धर्म साधन करने लग गये। और जल से अभिषेक होता ही था सो करने लग गये।

काष्ठा संघ में पंचामृताभिषेक

अनन्तर जल से अभिषेक होने के कारण वह काष्ठ की प्रतिमा फटने लगी। तब श्रावकों ने जाकर उन मुनि राजा से कहा कि अब क्या करें। उन्होंने कहा कि प्रतिमा फटने से तो अविनय होता है। तुम प्रथम प्रतिमा का जल से अभिषेक मत करो, प्रथम ही दुग्ध, दही, घृत, इक्षुरस और सर्वौषधि से श्री जी का अभिषेक करो। इस से किसी प्रकार की न तो अशुद्धता ही आवेगी और न मूर्ति ही फटेगी। बाद में जल से अभिषेक करो। मगर यह पंचामृताभिषेक भी तब तक करना जब तक धातु, पाषाण की दूसरी प्रतिमा तैय्यार न हो जावे। जब दूसरी

प्रतिमा तैय्यार हो जावे तब सब इन प्रपंचों को छोड़ कर भगवान् का अभिषेक केवल शुद्ध जल से ही करना। अब यह पंचामृताभिषेक अनेक जगह रूढि में आगया।

[यह कथन नागौर के भंडार की पट्टावली से लिखा है]

प्रश्न—पं० पन्नालालजी सोनी ने काष्ठासंघ की उत्पत्ति ७५३ में बतलाकर तथा ७३३ वि० सं० के काष्ठासंघ से पहले रविषेणाचार्य के पद्म पुराण से पंचामृताभिषेक का विधान बतला कर यह सिद्ध किया है कि यह पंचामृताभिषेक मूल संघ आम्नाय का है। क्योंकि पद्म पुराण काष्ठासंघोत्पत्ति से प्रथम का है। और उसमें भी पंचामृताभिषेक का विधान है। उनका यह कहना क्या ठीक है?

उत्तर—यह युक्ति पं० पन्नालालजी की जब ठीक हो सकती थी जब कि काष्ठासंघ से पूर्व मूल संघ ही होता और बीच में कोई शिथिलाचारी तथा पंचामृताभिषेक के विधान करने वाले संघ न हुए होते? सं० १३६ के बाद बीच में श्वेताम्बर सम्प्रदाय, द्राविड़ तथा यापनीय आदि संघ पंचामृताभिषेक विधान करने वाले हो चुके हैं। अतः यह पंचामृताभिषेक मूल संघ आम्नाय का कैसे मान लिया जावे? ये तो मूल संघ आम्नाय से उत्तर के ही संघ हैं। इससे यह पंचामृताभिषेक मूल संघ आम्नाय का नहीं हो सकता।

वि० स० ८३४ के पुन्नाट संघी आचार्य श्री जिन सेन ने भी काष्ठा संघ आम्नाय की पुष्टि करते हुए हरि वंश पुराण में पंचामृताभिषेक का खूब प्रतिपादन किया है। यह तथा इन के समान अन्य अमिति गति आदि आचार्य भी काष्ठा संघ के पोषक होते हुए भी अपने को मूल संघ का प्रति पादन करते हैं। वास्तव में ये काष्ठा संघी हैं। क्योंकि अनेक स्थलों में इन ग्रन्थों में मूलसंघ आम्नाय से विरोध मिलता है। जसे १०-११-१२ शताब्दी के आचार्यों में माथुर संघ के अमितगति आचार्य के सुभाषित रत्न संदोह में मुनियों के आचरण में मूल संघ की अपेक्षा अत्यन्त विरोध है। इन्होंने अपने को मूल संघ का इस कारण बतलाया है कि जिससे इनकी बात सब लोग प्रमाण माने तथा काष्ठा संघ की पुष्टि हो।

मूलसंघ अम्नाय से विपरीत कथन करने वाले ग्रंथ

आगे हम ऐसे आचार्यों की नामावली तथा उनके ग्रन्थों की सूची देते हैं जो कि मूल संघ आम्नाय के मन्तव्य से विरुद्ध कथन भी करने वाले हैं। हम नहीं कह सकते कि यह कृति उनकी है या भट्टारकों ने क्षेपक रूप से जोड़ दी है। या ये लोग अपने को मूल संघाम्नाय प्रचारक हैं—

आचार्य नाम	ग्रन्थनाम
१. अमित गति	सुभाषितरत्न संदोह
२. रविषेण	पद्म पुराण
३ जिनसेन	हरिवंश पुराण
४. मल्लिषेण	नाग कुमार चरित्र
५. सोमदेव	यशस्तिलक चम्पू
६. वामदेव	भाव संग्रह
७. कवि वर्धमान	वरांग चरित्र
८ पूज्यपाद द्वितीय	श्रावका चार पंचामृता भिषेक
९. श्रुत सागर भट्टारक	अनेक ग्रन्थों के टीकाकार
१०. द्वितीय देवसेन	
११. काष्ठा संघी अकलंक	
१२. गुरुदास	प्रायश्चित ग्रन्थ
१३. सकल कीर्ति भट्टारक	श्री पाल चरित्र
१४. वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती	श्रावकाचार
१५. श्रुतनन्दी	
१६. नयनन्दी	
१७. पण्डित मेधावी	
१८. द्वितीय उमास्वामी	श्रावकाचार
१९. भट्टारक सोमसेन	त्रिवर्णाचार
२०. एक संघी भट्टारक	
२१. पं० आशाधरजी	
२२. आचार्य इन्द्रनन्दी	

आचार्य नाम	ग्रन्थनाम
२३. द्वितीय गुणभद्र	
२४. अभयनन्दि सूरी	
२५. कवि नेमिचन्द्रजी	
२६. सकल भूषण	
२७. पं० अभयनन्दी	
२८. पं० भूधरदासजी	चर्चा समाधान
२९. चम्पालाल पाण्डे	चर्चा सागर
३०. विद्यानुवाद रचयिता	विद्यानुवाद
३१. कायगजांकुश	
३२. शुभचन्द्र भट्टारक	
३३. सिंहनन्दी आचार्य	
३४. पं० अप्पपार्य	
३५. ब्रह्म सूरि	त्रिवर्णाचार
३६. किशनसिंह	क्रियाकोष
३७. इन्द्रनन्दी	इन्द्रनन्दी संहिता
३८. तेरह द्वीप विधान कर्ता	तेरह द्वीप विधान
३९. पं० नेमिचन्द्रजी	प्रतिष्ठापाठ
४०. योगीन्द्र सूरि	श्रावक धर्म
४१. पं० नेमिचन्द्र	सूर्य प्रकाश
४२. मल्लि सेनाचार्य	
४३. सकल कीर्ति भट्टारक	
४४. वामदेव	

इन आचार्यों के अतिरिक्त अनेक उद्भट विद्वान और भी हुए हैं। उन का नाम यहां नहीं दिया है। हम को इन से इनके कथन में या इन के ग्रन्थों से किसी प्रकार द्वेष नहीं है। परन्तु जो कथन मूल संघ आम्नाय से विरुद्ध पड़ता है वह मान्य नहीं होगा।

मूल संघाम्नाय अहिंसक तथा सचित्त परित्यागी है। और काष्ठासंघी इससे विरुद्ध है। शास्त्रों में अतः एव इन को जैनाभास कहते हैं।

दूषित भावना वाले काष्ठासंघी आचार्यों ने अपना नाम काष्ठासंघ प्रकट न करके सिंह नंदी, सेन, देव संघ आदि नाम रख कर प्रकट किया है। किन्तु उनके मन्तव्यों द्वारा फिर भी काष्ठासंघी पना उन के ग्रन्थों से प्रकट हो जाता है। वह नहीं छिप सकता।

काष्ठासंघ आम्नाय का पूर्ण रूप से पोषक बीस पंथ। है इसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

प्रश्न—जबकि उल्लिखित आचार्य अपने को मूल संघ का आचार्य बतलाते हैं तो उन्होंने काष्ठा संघ का पोषण क्यों किया ? तथा श्रावकों ने उनकी बातों को क्यों स्वीकार किया ?

उत्तर—ये लोग भट्टारक थे। इनमें अभिमान तथा कषायों की प्रबलता थी। जो इन्हों ने एक बार मुख से निकाल दिया उसकी ही पुष्टि करते चले गये। धर्म की परवाह एवं चिन्ता नहीं की और अपने पास मन्त्र और यन्त्र आदि का बल तथा विद्या बल था अतः लोगों को मनवा दिया। तथा श्रावकों को भी उनके अनुकूल करना पड़ा।

पंचामृताभिषेक हिंसा मूलक है

पक्षपात की यहां तक वृद्धि हुई कि धर्म की परम्परा नष्ट होने का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया। अत्यन्त अपवित्र गौ के गोबर से भगवान की आरती का विधान तथा गोमूत्र तक से प्रतिमा का अभिषेक करने का विधान लिख दिया।

विचार करने की बात है अहिंसामत एवं अहिंसा के पूर्ण रूप से पोषक जैन धर्म में पांच अभिषेक के पदार्थों का विधान कहां तक संगत होगा जिस में प्रत्यक्ष परिग्रहण की झलक के साथ हिंसा, न केवल स्थावर की, बल्कि उसके सहयोग से इक्षु रस आदि मिष्टान्न के कारण चीटियों आदि जीवों की भी हिंसा होती है। दूध दही घी आदि कभी २ शुद्ध न मिलने पर अमर्यादित तथा बाजारू एवं नीचों से स्पृष्ट तक भी काम में लाये जाते हैं।

यदि वीतराग धर्म में भी अभिषेक पंचामृत से मान लिया जावेगा तो सर्वथा अहिंसा तथा निवृत्ति मार्ग का लोप हो जावेगा। अतः पंचामृताभिषेक वीत रागता अहिंसा—एवं अपरिग्रहत्व का विरोधी धर्म है। विचारशीलों को यह नहीं करना चाहिये।

हमारा तो ध्यान है कि जो अतिशय क्षेत्रों पर प्रथम अतिशय मिलता था उतना अब नहीं मिलता है। अतः इसमें वीत राग आम्नाय विरुद्ध पंचामृताभिषेक आदि ही कारण है।

प्रश्न—पंचामृताभिषेक से प्रभावना विशेष होती है और प्रभावना सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में एक अंग गिनाया है और प्रभावना में हिंसा भी थोड़ी बहुत होती है, जिस प्रकार पंच कल्याणक प्रतिष्ठा आदि में होती है। अतः पंचामृताभिषेक में थोड़ी बहुत हिंसा भी है तो भी प्रभावना होने के कारण क्यों नहीं किया जावे ? प्रभावना के वास्ते तो लोग लाखों रुपया खर्चते हैं।

उत्तर—जिस प्रभावना के द्वारा पद २ पर हिंसा हो, वीतराग का मार्ग बिगड़े, वीतराग में भी सरागता होने की संभावना हो जावे वह प्रभावना नहीं हो सकती। जो भी कार्य किया जाता है वह कभी उद्देश्य से प्रतिकूल नहीं होता। वीतराग का निवृत्ति मार्ग है। उसमें रागद्वेष की निवृत्ति तथा परिग्रह की सर्वथा निवृत्ति और अहिंसा ही प्रधान है। पंचामृताभिषेक में उद्देश्य से प्रतिकूल राग—परिग्रहण और हिंसा तीनों का विधान हो जाता है। अतः वीतराग धर्मानुयायी निवृत्ति मार्ग पर चलने वाले परिग्रह से दूर रहने वाले, और अहिंसा को महत्त्व देने वाले, जैन मता वलम्बियों को सराग धर्म में प्रवृत्त कराने वाले प्रवृत्ति मार्ग में चलाने वाले, परिग्रह में फंसाने वाले और हिंसा की पुष्टि के कारण भूत उद्देश्य से सर्वथा विरुद्ध पंचामृताभिषेक में प्रभावना के धोखे में पड़कर कभी भी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये। पंचामृताभिषेक, से उद्देश्य प्रतिकूल होने के कारण प्रभावना रूप कभी नहीं हो सकता है सो ध्यान में रखना चाहिये।

इस प्रकार कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं के अभिषेक का विधान जल से ही अनेक स्थानों में पाया जाता है। और भगवान जिन सेनाचार्य एवं गुणभद्राचार्य आदि मूल संघ के दि० आचार्यों ने कहीं पर पंचामृताभिषेक का नाम तक भी नहीं लिया है।

आगे इस के विषय में प्रमाण भी लिखते हैं।

"अभिषेकमहं नित्यं सुरनाथाः सुरैः समम्।
द्विद्विः प्रहरपर्यन्तमेकैकदिशि शान्तये ॥ ६६
कनत्क चनकुंभस्य निर्गतैः निर्मलांबुभिः।

महोत्सवशतैर्वाद्यैर्जयकोलाहलैः स्वनैः ॥ ७० ॥
नित्यं प्रकुर्वते भूत्या निश्वविघ्नहरं शुभं ।
जिनेन्द्रदिव्यबिम्बानां गीतनृत्यस्तवैः मह ॥ ७१ ॥ [सिद्धान्तसार]

इन पद्यों का अर्थ पीछे दिया जा चुका है ।

भट्टारक मार्ग की उत्पत्ति

वि० सं० १२६५ में इन्द्र प्रस्थ (देहली) मे अल्लाउद्दीन गौरी एक क्रूरबादशाह शासन कर रहा था । उसके समय में राघो और चेतन नाम के दो ब्राह्मण मन्त्र शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे । ये लोग दिगम्बर जैनों के अत्यन्त विरोधी थे । इनका अल्लाउद्दीन बादशाह पर अच्छा प्रभाव था । इन को किसी व्यन्तर की सिद्धि थी । जिसके द्वारा अन्य जनता पर भी अच्छा प्रभाव हो गया था । एक समय इन्होंने अवसर पाकर बादशाह से कहा कि सब धर्मों की परीक्षा होनी चाहिये । बादशाह यह चाहता ही था । बादशाह ने इनकी बात सुनकर आज्ञा देदी कि जो धर्म अपनी २ महत्ता को नहीं दिखावेगा उसको इसलाम धर्म स्वीकार करना पड़ेगा । यह सुनकर जैनियों के हृदय दहल गये और उस प्रान्त में मुनियों के अभाव के कारण बड़ी भारी चिन्ता हो गयी । "पचम काल मे दक्षिण प्रान्त में मुनियों का अस्तित्व रहेगा" यह शास्त्र वाक्य उनको थोड़ी देर बाद याद आगया । और आशा का संचार होने लगा । तुरत ही बादशाह से प्रार्थना की कि हमको आप ६ माह का समय दीजियेगा, तब हम अपने गुरुओं को बुलाकर जैन का महत्व दिखा सकेंगे । हमारे गुरु इस समय दक्षिण देश में है और वहां आने जाने में छै मास लग जाते हैं । यह सुनकर बादशाह ने उनको छह माह की अवधि देदी । धर्म प्रेमी श्रावक मुनियों की खोज में दक्षिण की ओर चल पड़े । और अनेक कष्टों को सहन करते हुए वन, नगर, और भयकर अटवियों को लांघ कर जहां दि० जैन आचार्य महासेन स्वामी का संघ विराजमान था, वहां पहुंच गये । और दर्शन करके धर्म संकट के समाचार कहे । स्वामी ने सुनकर "अच्छा" इतना ही कह दिया । श्रावकों का सारा समय इन की सेवा में व्यतीत होने लगा । इस प्रकार समय व्यतीत होने पर' बादशाह से हमको ६ माह की अवधि ही मिली है केवल कलका ही दिन बाकी है' इसका स्मरण करते से उनको चिन्ता हुई और मुनि महाराज के पास आकर विनय सहित निवेदन किया कि "स्वामिन् ? बादशाह का निर्धारित समय कलतक का ही है" । यह सुनकर मुनि महाराज ने उत्तर दिया कि "तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो निःशङ्क रहो । कलही जैन धर्म की अवश्य प्रभावना हो जावेगी" । श्री गुरु की ऐसी आज्ञा होने पर सब अपने २ स्थान पर जाकर सोगये । प्रातः काल सोकर उठे तो अपने को दिल्ली में ही पाया । और स्वामीजी दिल्ली के श्मसान में ध्यान में तल्लीन मिले ।

देहली में एक बड़े प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मणदासजी थे। उनके पुत्र का नाम भगवानदास था। रात को भगवानदास अपनी स्त्री सहित महल में सो रहे थे। अचानक सेठानी की चोटी पलंग से नीचे लटक पड़ी और उस चोटी पर होकर एक सर्प पलंग पर चढ़ आया। उसने सेठ के पुत्र को काट लिया और वह मर गया। उसके मरने पर तमाम दिल्ली में हा हा कार मचगया।

जिस श्मसान में मुनिराज ध्यान लगा रहे थे वह सेठ का लड़का जलाने के लिये उसी श्मसान में लाया गया और चिता बनाई गयी। मुनिराज ने नगरवासियों से सेठ के यह समाचार मालूम कर के उनको कहा कि यह सेठ का पुत्र तो जीवित है। लोगों ने दौड़कर देखा तो उस को जीवित पाया। इस प्रकार के वृत्तान्त से लोग आश्चर्य में पड़ गये और शहर में हल्ला मच गया। जनता दर्शनार्थ आने लगी और थोड़ी देर बाद हजारों आदमी वहां पर आगये। जैन धर्म की प्रभावना होनी लगी। यह समाचार जब बादशाह को पता लगा तो उनको बादशाह ने बड़े विनय के साथ अपने पास बुलाया। मुनिराज श्रावकों सहित शाही दरबार में पहुँचे। उस समय दरबार में राघो और चेतन दोनों ब्राह्मणों ने मुनिराज को देखकर कहा कि "आपने अपने कमण्डलु में मछलियें क्यों पकड़ रखी हैं" यह सुनकर और अपने ध्यान से कमण्डलु मे मछलियां हैं ऐसा विचार कर एवं भोले लोगों को ठगने वाले ये राघो और चेतन हैं ऐसा समझ कर गमीरता, धीरता और निर्भीकता से नम्र शब्दों द्वारा प्रेम पूर्वक कहा कि इसमें तो शौचके लिये प्रासुक जल है, मछलियें कहां हैं? जैन दि० मुनि कमण्डलु में प्रासुक जल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रखते हैं। ऐसा कह हजारों मनुष्यों के सामने कमण्डलु दिखादिया, जल के अतिरिक्त कुछ नहीं निकला। फिर रीता कमण्डलु सभा में औंधा कर दिया तो सारी सभा में पानी ही पानी होगया।

अनन्तर मुनिराज तथा दोनों ब्राह्मणों का षड् दर्शन विषय पर बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ और अन्त में मुनिराज की विजय हुई। इस प्रकार मुनिराज के अचिन्त्य प्रभाव एवं चमत्कारों को देखकर श्रावकों की धर्म पर बड़ी दृढ श्रद्धा हो गई। और बादशाहने भी जैन धर्म की प्रशंसा की। उसदिन महासेन स्वामी ने पुनः देहली एवं भारत मे जैन धर्म की अखण्ड ध्वजा फहरा दी थी।

अनन्तर फीरोज शाह तुगलक तथा पुरातन बादशाह अल्लाउद्दीन ने दिगम्बर आचार्यों को वस्त्र धारण करने के लिये बाध्य किया। और उक्त दोनों बादशाहों की बेगमों ने कह २ कर दिगम्बराचार्यों को बादशाहों से ३२ बत्तीस पदवियां दिलवाईं। पदवियों के लोभ से मुनियों ने कपड़े धारण कर लिये और फिर बेगमों ने उन के दर्शन किये। ये लोग उस समय से भट्टारक कहला कर पुजने लगे। इन लोगों के पास बड़े २ चमत्कारी मंत्र और यन्त्र थे। अतः चमत्कारों के प्रभाव से ये लोग खूब पूजे गये और फिरभी बादशाहों ने इन को बहुत से प्रमाण पत्र दिये। वे सनदें आजतक देहली, कोल्हापुर और नागौर के भट्टारकों के पास मौजूद हैं। यह कार्य सन १२६५ से लगाकर १३१५ तक अर्थात् २० बीस वर्ष चलता रहा।

सं. प्र. | च. कि. ३

यह कथन आरा से प्रकाशित जैन सिद्धान्त भास्कर (भा० १ किरण ४ पृष्ठ १०६ से ११४) में काष्ठा संघ की पट्टावली का भाषानुवाद तथा सूरत से प्रकाशित "भट्टारक मीमांसा" नामक पुस्तक के आधार से लिखा है ।

यह कथन दूसरी प्रकार निम्नलिखित रूप में भी मिलता है कि बादशाह अल्लाउद्दीन और मुनिराज श्री महासेन स्वामी का समागम सेठ पूर्णचन्द्रजी के द्वारा हुआ था । सेठ पूर्णचन्द्रजी देहली के अग्रवाल जैनियों में विशेष प्रतिष्ठित एवं सम्माननीय व्यक्ति थे । सुल्तान उनका बहुत सम्मान करता था । वह उन पर इतना दयालु था कि—वे बादशाह की सहायता से देहली से श्री गिरनारजी की यात्रा के लिये संघ ले जाने के लिये समर्थ हुए ।

जिस समय यह संघ सब तीर्थों की यात्रा करता हुआ गिरनार पहुँचा उसी समय "पथड़ाशाह" के नेतृत्व में श्वेताम्बरों का भी एक संघ आया और दोनों संघों में (पहले और पीछे के विषय पर) वन्दना के लिये बहस होने लगी । परन्तु वृद्ध लोगों ने समझौता करा कर साथ २ वंदना कराने का निर्णय कर दिया । यह घटना सन् १३०७ और १३०८ की है ।

अनन्तर भट्टारक लोगों ने प्रभुता और सम्पत्ति प्राप्त करके निवृत्ति प्रधान जैन धर्म को अत्यन्त दूषित एवं प्रवृत्ति प्रधान बनादिया । अपने को मूलसंघाम्नाय के कह कर मनमानी प्ररूपणा करने लगे । इन लोगों ने अपनी गद्दी पर ब्राह्मणों को बैठाया और सब वैष्णव धर्म के पूजन श्राद्ध-तर्पण-आचमन-गोपूजन-पीपल पूजन गोवर से आरती करना, दूब राख से आरतीकरना, गोमूत्र से प्रतिमा का प्रक्षाल करना, योनि का पूजन आदि सब ही कुछ शास्त्रों में लिखमारा । नये २ ग्रन्थ बनाकर प्रचार कर दिया । मुकुट सप्तमी में भगवान को मुकट पहराना, फूलों की माला पहराना, आदि सब कुछ वैष्णव धर्मानुकूल कर दिया । इस प्रकार इन के शिथिलाचार पोषण को कोई भी नहीं रोक सका । क्योंकि इन के पास बादशाहों की सनदें तथा पट्टे परवाने थे । मन्त्र और तन्त्र शक्ति के साथ राज शक्ति का बल था । किस की ताकत थी जो उनके सामने बोलता । प्रचार बढ़ता ही गया और जैन धर्म तथा इसका मुख्य निवृत्ति मार्ग का उद्देश्य रसातल में पहुंचता ही गया ।

कुछ काल बाद इस शिथिलाचार को दूर करने के हेतु और इन बुराइयों को रोकने के लिये (८४ आसातना को हटाने के लिये) तेरह पंथ दल निकला जिसने धर्म के नाश के निम्नलिखित कारणों को रोकने के लिये पूर्ण प्रयत्न किया एवं ये ८४ आसातना न की जावे ऐसा प्रत्येक जैन मन्दिर में लिख २ कर लटकाया ।

चौरासी आसातना

"खेलं केलिकलिकला कुललयं तंबोल मुग्गालयं ।

गालिकं गुलियाँशरीरधुवनं केसे नहे लोहियं ॥
भक्तो संत पपित्तवंत दंसणे विस्सामणे दामणं ।
दंत छीनह गण्डनासि असिरो सतत्थ बीयां मलं ॥ १ ॥
मत्तमीलया लेखियं विभजणं भंडार दुट्ठासणं ।
छाणीकापड़ दालि पप्पड़वड़ी विस्सारणं थासणं ॥
अक्कथ दशिहं सरच्छ घटणं तेरिच्छ संच्छावणं ।
अग्गीसेवण रंधणा परिरणं खिस्सहं आभंजणं ॥ २ ॥
छत्तोवाहणा चामणखि रमणो खेगतमब्भगणं ।
सचित्ताणमे चाप चाप भजिया दिट्ठे इयो अंजली ॥
साडंगतर संग भंग मउडमाला सिरो सेहुरं ।
हुण्डो गिदु उभिंभि अहारसणं भंडकियं ॥ ३ ॥
रिक्खाधारणं रणां विवरणं वालाण पलच्छियं ।
पाउपाप पसारणं पउपुडो पंके रजोमेहुणं ॥
जुआ अ मणगुज्ज विज्ज वणिज सिज्जाजल मंज्जणं ।
एमाईया मवज्ज कज्जसुज्ज ओउज्जे जिणदालयं ॥ ४ ॥"

नीचे इन आसातनाओं नाम लिखते हैं।

१ थूकना २ हास्यविनोद क्रीड़ा करना ३ कलह क्लेश करना ४ कला चतुराई करना ५ कुल्ला करना ६ पान सुपारी खाना ७ पान का उगाल करना ८ गाली देना ९ अंगुली चटकाना १० विनाछने पानी से नहाना ११ हजामत बनवाना १२ नाखून काटना १३ रुधिर बहाना १४ भोजन कराना १५ चमड़ा काटना १६ पित्तडालना १७ वमन करना १८ दंतौन करना १९ सोना २० गाय भैंस आदि बांधना २१ दांतों को कुचर खून निकालना २२ नेत्रों का मैल निकालना २३ नाखूनों का मैल निकालना २४ गले का मैल निकालना २५ नाक का मैल निकालना

२६ बालों का मैल निकालना २७ कान का मैल निकालना २८ मलमूत्र करना २६ अधोवायु छोडना ३० सलाह मशवरा करना ३१ विवाह सगाई करना व कराना ३२ चिट्ठी लिखना व लिखाना ३३ कुत्सित शास्त्रों का लिखना व लिखाना ३४ धन मकान व जायदाद आदि का बटवारा करना व करवाना ३५ भंडार में पदार्थ रखवाना ३६ दुष्ट व अनुचित आसनों पर बैठना ३७ पैरों पर पैर रख कर बैठना ३८ कंडे थपवाना ३६ वस्त्रों का धोना धुलवाना सुखाना सुखवाना ४० दालदलवाना व सुधवाना ४१ पापड़ बनवाना ४२ मंगोड़ी बनवाना ४३ चारों विकथा का करना ४४ शत्रु आदि के भय से भाग कर वहां छिपना ४५ रोना रुलाना ४६ आभूषण बनवाना ४७ वस्त्रसिलवाना ४८ तोता मैना आदि को पालकर पिंजरे में रखना टांगना धोना ४६ अग्नि जलवा कर तापना ५० रसोई बनवाना ५१ सोना चांदी व रुपया वगैरह परखना ५२ णिस्सहि तथा जय २ शब्द को आते जाते नहीं बोलना ५३ पगड़िया बांधना तथा बंधवाना ५४ जूता या खड़ाऊँ पहिनकर मंदिर में घूमना ५५ शास्त्रों का बांधना ५६ छत्रलगवाना अपने ऊपर चमर ढुरवाना ५७ पंखों से हवा करवाना पंखा खिचवाना ५८ मन से बुरे विचार कर उद्गार निकालना ५६ तेल और उबटन लगवाना ६० स्वयं की सचित्त पूजन करवाना ६१ विकार पैदा करनें वाले चित्राम बनवाना तथा टांगना ६२ नंगे शरीर बैठना, नगे बदन रहना, जांघे उघाड़कर बैठना ६३ पुष्पों को टांगना शृंगार के वास्ते तिलक लगवाना ६४ शर्तें लगाना हारजीत की बाजी लगाना ६५ शतरंज, चौपड, तास, नक्की मूंठ वगैरह खेलना ६६ नमोस्तु इच्छाकार जुहारादिक श्रावकादिकों से मंदिर में करवाना ६७ भंडरूप क्रियाओं का करना ६८ 'तू' 'मैं' आदि अपमान जनक शब्दों का कहना ६६ दाढ़ी मूंछ के बालों को मरोड़ना ७० युद्ध कराना, युद्धों के उपन्यासों का समह करना और बांचना ७१ केश बखेरना, कंघी करना, हजामत कराना, सोडा साबुन लगाना, ७२ बालों को संभाल कर शृंगार करना ७३ पैरों को फैलाकर बैठना ७४ पैरों को दबाना, जुलाब लेना, टट्टी जाना, मल मूत्र करना पैरों की कीचड़ को धुलवाना ७५ स्त्रियों का आना जाना रखना, मैथुन सेवन करना, दासियें रखना, कचरा निकालने को स्त्री रखना, उनके आने जाने में किसी प्रकार का परहेज न रखना ७६ शरीर या वस्त्रों के मैल को दूर करना ७७ हारजीत के खेल खेलना ७८ पुष्पवाटिका लगवाना, विना छने पानी से सिंचवाना ७६ घोड़ा—घोड़ी बैल—गाय, ऊंट—ऊंटनी, गाड़ा—गाड़ी रथ पालकी आदि रखना चौका लगवाकर भोजन तैय्यार कर आप जीमना औरों को निमन्त्रण कर जिमवाना ८० गुह्य अंगों का उघाड़ना ८१ वैद्यक, यन्त्र, मन्त्र, और तन्त्र करना ८२ वाणिज्य एवं व्यापार करना, या करवाना, ८३ खाट पलग कुरसी आदि बिछवाना उन पर बैठना सोना ८४ जल क्रीड़ा करना मकान बगीचा निवाड़ बनवाना या सलाह देना।

केशर पुष्प चढाने का प्रारंभ

उल्लिखित प्रकार के आचरण भट्टारक लोग करने लग गये थे। तथा इनके भी अतिरिक्त आगम विरुद्ध क्रियायें इन लोगों में बहुत विशेष हो गई थीं। तब शुद्धाम्नायी त्रयोदशपन्थियों ने इनको शास्त्र विरुद्ध क्रियाओं का विरोधकिया और इनसे। बहुत से प्रश्न किये तब भट्टारकों से कुछ न बना तो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं पर खूब केशर और पुष्प चढ़ाने लग गये।

प्रश्न—भट्टारक लोगों ने प्रतिमाओं पर केशर और पुष्प चढ़ाना क्यों प्रारंभ किया था। केशर और पुष्प चढ़ाने से उनका क्या स्वार्थ सिद्ध होता था।

उत्तर—इसका कारण यह था कि केशर पुष्पों के चढ़ाने से परिग्रही मूर्तियों को अपूज्य समझ कर शुद्धाम्नायी मूल संघी श्रावक मन्दिरों में नहीं आवेंगे और हमारी पोल नहीं खुलेगी। उसी समय विद्वान भट्टारकों ने केशर पुष्पादि चढ़ाने के विधान के नये श्लोक बनाकर पुरातन ग्रन्थों में क्षेपक रूप से और नये २ पद्य बनाकर रखदिये। और जो इतने विद्वान नहीं थे उन्होंने ब्राह्मण विद्वानों से श्लोक एवं ग्रन्थ बनवाये और भोले भाले श्रावकों को प्राचीन मूल संघ के ग्रन्थ बतला कर अपने अनुकूल कर लिया।

'शुद्धाम्नाय के जो विद्वान् थे, वे इन भट्टारकों के पाश में न फंस सके। उन्होंने खूब जोरों से इनका खण्डन किया तथा उपदेश देकर मूल संघ का जो प्राचीन शुद्धमार्ग था उसका प्रचार किया। उसी समय से शुद्धाम्नाय मूल संघी तेरह पंथी कहलाने लगे और केशर पुष्प पंचामृताभिषेक तथा सुरे गाय के चमरों का उपयोग करना, आरती एवं रात्रि पूजा भी करने का विधान करने वाले भट्टारकों के अनुकूल चलने वाले बीसपंथी कहलाने लगे। वास्तव में १३ और २० में किसी प्रकार का मौलिक सैद्धान्तिक भेद नहीं है। दोनों सम्प्रदाय एक ही हैं। आज कल जो २० बीस पंथी कहलाते हैं, वे काष्ठासंघी रूप आचरण करते हैं। और काष्ठासंघियों को सिद्धान्त में जैनाभास कहा है। यथार्थ में सिद्धान्त दोनों के एक हैं जो अन्तर है वह ऊपर बतादिया है। तेरह पंथ कोई नूतन सम्प्रदाय नहीं है।

मूल संघ के प्रचारक विद्वान्

अनन्तर वि. सं. १६४३ के बाद होने वाले बहुत से विद्वानों ने नये ग्रन्थों द्वारा जो कि प्राचीन मूल संघ के पोषक एवं नवीन भट्टारक संप्रदाय के खण्डक थे प्राचीन तेरह पंथ का पुनः प्रचार किया। तथा सेठ जुहारमल मूलचन्दजी सोनी अजमेर निवासी द्वारा भी इस प्राचीन तेरह पंथ (त्रयोदश चरित्रात्मक) का अधिक प्रकाश किया गया।

अब हम नीचे उन विद्वानों की नामावली देते हैं जिन्होंने उल्लिखित प्राचीन पंथ का पुनरुद्धार किया १ कविवर बनारसीदासजी २ भैया भगवतीदासजी ३ पं० दौलतरामजी बसवावाले ४ महा विद्वान पं० टोडरमलजी ५ भाई रायमलजी ६ पं० जयचन्दजी छाबड़ा ७ कविभूधरदासजी ८ कवि द्यानतरायजी ९ कवि भागचंदजी १० कवि दौलतरामजी ११ नवलचन्दजी १२ बुधजनजी १३ पं० सदासुखजी १४ हेमराजजी १५ ज्योति प्रसादजी १६ नैन सुखदासजी १७ पन्नालालजी संघी दूनी वाले आदि। इनके अतिरिक्त अन्य भी विद्वान हुए हैं

जिनके द्वारा मालवा, बुंदेलखंड, मारवाड़, देहली, मध्यप्रान्त, पूर्व देश, खैराड़, हाड़ोती, सपाद, गोरवाड़ा, बरार, खानदेश वगैरह प्रान्तों में धर्म का प्रचार हुआ।

"शतपदी" नामक संस्कृत ग्रन्थ के रचयिता श्वेताम्बराचार्य ने भी अपने ग्रन्थ में दिगम्बरों को संबोधन करते हुए कहा है कि तुम दिगम्बर होकर भी ऐसी शिथिलता का कार्य करते हो और अपने कृत्यों द्वारा धर्म को कलङ्कित करते हो।

श्वेताम्बर पण्डित बख्तावर रामजी ने अपने "बुद्धिविलास" में लिखा है कि "हे यतियों ? ये जिन कल्पी दिगम्बर धर्म कितना उत्कृष्ट था जिसे तुम लोगों ने शिथिलाचारी होकर मलिन करदिया। सो यह मार्ग तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम धर्मात्मा होकर ऐसा कार्य मतकरो। ऐसा कार्य तो पापी पुरुष करते हैं।

मूलसंघी आचार्य नामावली

अब यहां परिचय के लिए उन मूल संघी आचार्यों की नामावली देते हैं जिन्होंने महान ग्रन्थों की रचना की है:—

१. भगवान कुन्दकुन्द स्वामी २. भगवान् उमास्वामी ३. पुष्पदन्त स्वामी ४. भूतबलि ५. मुनि माघनन्दी ६. शिवापनाचार्य ७. स्वामी समन्तभद्राचार्य ८. स्वामी कार्तिकेय ९. वट्टकेर स्वामी १०. पूज्य पादस्वामी ११. भट्ट अकलंक स्वामी १२. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती १३. भगवज्जिनसेनाचार्य १४. योगीन्द्र देव १५ प्रभाचन्द्राचार्य १६. गुणभद्रस्वामी १७. वीरनन्द्याचार्य १८. पद्मनन्द्याचार्य १९. विद्यानन्दी स्वामी २०. अनन्तवीर्य स्वामी २१. आचार्य माणिक्यनन्दी २२. शुभचन्द्राचार्य २३. अमृत चन्द्र सूरि २४. कनकनन्दी २५. मेघचन्द्र २६. वादिराज सूरि २७. मानतुंगाचार्य २८. कुमुद चन्द्राचार्य २९. अभयनन्द्याचार्य ३०. चामुण्डराय ३१. श्री धर्म भूषण ३२. जयसेनाचार्य ३३. मल्लिषेण ३४. सकल कीर्ति ३५. वादीभ सिंह

उल्लिखित आचार्यों को भट्टारकों ने भी माना है। यहां तक है कि मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराते समय अपने को कुन्दकुन्दादि आम्नाय का बतलाया है। मूर्तियों पर भी कुन्दकुन्दादि आम्नाय मूर्ति प्रतिष्ठित, की ऐसा लिखा है। फिर भी उनकी आम्नाय से विरुद्ध पंचामृताभिषेक, प्रतिमा के चरणों पर केशर लगाने तथा सचित्त पुष्प चढाने का विधान करते हैं। आश्चर्य की बात है। अपने को कुन्दकुन्दादि के आम्नाय के बतलाकर भी अपने स्वार्थ से जिसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया उसके प्रचार पर उतारू हो जाना और भोले जीवों को अपने जाल में फंसाना इनने अपना कर्त्तव्य समझा। इन बड़े २ आचार्यों ने जो पुरातन एवं मूल संघ में हुए हैं कहीं पर भी पंचामृताभिषेक, चरणों में केशर तथा पुष्प चढाने का विधान तक नहीं किया। और उनके साम्प्रदायिक कहला कर पंचामृताभिषेक व केशर पुष्प

चमरादि विपरीत बातों का प्रतिपादन कर कुन्दकुन्द के नाम पर अर्थात् शुद्धाम्नाय के नाम पर पर पानी फेरना है। अतः जिन ग्रन्थों में पंचामृताभिषेक तथा केशर लेपन एवं पुष्प चढ़ाने का विधान मिलता है वे काष्ठासंघियों के अथवा भट्टारकों के जानने चाहिये। उन्होंने पक्षपात वश वीतराग देव के ऊपर केशर व सचित्त पुष्प चढ़ाने का तथा पंचामृताभिषेक लिखकर सराग बनाने का प्रयत्न किया है। एवं वीतराग मार्ग को दूषित कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। इस वास्ते यह सर्वथा हेय है। जिनको वीतराग शब्द भी याद है, वे लोग कभी भी देव को पक्षपात से सराग नहीं बनायेंगे। तब ही उन्हें निवृत्ति मार्ग में लगना होगा और निवृत्ति मार्ग में लगने से आत्मिक कल्याण हो सकेगा।

भट्टारकों के शास्त्र विरुद्ध आचरण

आगे भट्टारक लोगों ने अपने को दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का महाव्रती बतलाकर भी कितना परिग्रह आडम्बर किया उसका कुछ उल्लेख करते हैं।

१ लाखों रुपयों की सम्पत्ति अपने पास रखना २. गृहस्थों से नमोस्तु कहलाना और भोजन करते समय थालियां बजवाना ३. क्षेत्रपाल और पद्मावती आदि का पूजन भगवान् से भी प्रथम करना ४. भक्षण करने में गोरोचन कस्तूरी शंख भस्म आदि को भी पवित्र मानना ५. कंडों से रोटी बनावे तो कोई दोष नहीं है ६. रात्रि में यदि दवाई ली जावे तो भी कोई दोष नहीं है ७. द्विदल का न मानना ८. दश प्रकार के कुदानों के लेने से भी कोई दोष नहीं है ऐसा कहना ९. भगवान के अभिषेक के लिये गायों का दान करना चाहिये। १० भूत प्रेत सर्प आदि को भी शासन देव बतलाना ११. अनेक दीपों के द्वारा भगवान् की आर्ति करना १२. व्रतों का उद्यापन करा के भेट में द्रव्य लेना १३. जैनियों को खंभों से बंधवाकर अपनी इच्छानुसार भेंट लेना १४. रथ-पालकी नालकी आदि रखना १५. चपरासी घोड़े, बैल, रथ और नौकर आदि रखना १६. इत्र लगाना १७. माला पहरना १८ जितना खर्च हो सब जैनियों से वसूल करना १९. गरिष्ठ भोजन बनाकर या बनवा कर जीमना २० नौकरों को भी माल खिलाना।

इस प्रकार न अनेक शास्त्र विरुद्ध आचरणों से बहुत से लोग दुःखी हो गये और जब इनको उन्होंने भंडारों में से आगम लाकर दिखाये और उन्हीं से कहा कि आप लोग जो करते हो वह आगम से प्रतिकूल है तब भट्टारकों ने ऐसे श्लोकों को निकलवा दिये जो कि अपने से प्रतिकूल पड़ते थे और जो अपने अनुकूल पड़े ऐसे पद्य बना बना कर ग्रन्थों में रखदिये या रखा दिये।

पंचामृताभिषेक, केशर लेपन, सचित्त पुष्प भगवान् पर चढ़ाने आदि अनेक शास्त्र विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले स्वयं कपड़े धारण कर समाज की आंखों में धूल डालने वाले, रईसी ठाठ रखकर मुनि की तरह गृहस्थों से नमोस्तु कहलाने वाले भट्टारकों ने भ्रम एवं धोखा देने के

लिये अपने को मूल संघ आम्नाय का बताया, तथा जो मूल संघ आम्नाय के उद्भट विद्वान् आचार्य थे उन जैसाही अपना नाम रख और अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल ही ग्रन्थ बनाकर जैन धर्म का अपवाद कर भोली समाज को वञ्चित करने का पूर्ण प्रयास किया। बादशाही जमाने में में इन को प्रभुता प्राप्तथी। अतः इनको उस समय मनचाही सफलता भी मिली थी। इन्हों ने भगवान को भी कुण्डल मुकुट माला केशर और पुष्प धारण करा के परिग्रह युक्त किया था और कपड़े पहनने वाले साधुओं तक को भी दिगम्बर साधु मनवाने के लिये ग्रन्थों में श्लोक बना २ कर या बनवा २ कर सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। इसका एक उदाहरण सुनिए—

"अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्धपटः स्मृता ।
नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि ॥ २१ ॥
कषायवाससा नग्नो नग्नश्चानुत्तरीयमान् ।
अन्तःकच्छो वहिकच्छो मुक्तकच्छस्तथैवच ॥ २२ ॥ [त्रिवर्णाचार अध्याय ३]

अर्थ—अपवित्र कपड़े पहनने वाला, आधावस्त्र पहनने वाला, मैले कुचेले कपड़े पहनने वाला, धोती के सिवाय दूसरा कपड़ा न रखने वाला, केवल भीतर की तरफ कछोटा लगाने वाला, बाहर की तरफ कछोटा लगाने वाला, और कपड़े बिल्कुल न पहरने वाला, इस प्रकार अनेक तरह के नग्न माने गये हैं। इसका तात्पर्य है कपड़े पहने हुए को भी नग्न सिद्ध करना।

स्वर्गों में भी देव अभिषेक

"धम्मं पसं सिदूणं एहादूणदहेमिसेपलंकारं ।
लद्धा जिणाभिसेयं पूजं कुव्वंति सद्दिट्ठी ॥ ५५२ ॥ [त्रिलोकसार]

अर्थ—धर्म ने प्रशंसिकरि जल भरे द्रह विषै स्नान कर यह रूप अभिषेक करि अलंकार को पाय सम्यग्दृष्टि देव स्वयमेव जिन देव का अभिषेक और पूजन करे हैं।

यहां भी पंचामृताभिषेक का नाम नहीं दिया। जो पंचामृत अभिषेक शास्त्रों में होता तो स्वर्गों में जरूर इसका नामोच्चारण किया जाता।

वास्तव मे अभिषेक जल से ही होता है नहीं तो काष्ठासंघी आचार्यों के ग्रन्थों में जलाभिषेक का समर्थन नहीं होता। आगे काष्ठा संघी हरिवंश पुराण के कर्त्ता जिनसेनाचार्य एवं काष्ठासंघी पद्मपुराण के कर्त्ता रविषेणाचार्य ने भी भगवान् का अभिषेक जल से ही बताया है। प्रमाणों को नीचे उद्धृत करते हैं—

"एवं तत्र महातोये जनितेऽमरसत्तमैः।
अभिषेकाय देवेन्द्रो जग्राह कलशं शुभं॥ १८२॥
त.ः क्षीरार्णवांभोभिःपूर्णः कुम्भैः महोदरैः।
चामी करमयैः पद्मच्छन्नवक्त्रैः सपल्लवैः॥ १८३॥
अभिषेकं जिनेन्द्रस्य चकार त्रिदशाधिपः।
कृत्वा वैक्रियसामर्थ्यादात्मानं बहुविक्रमं॥ १८४॥ [पद्म पुराण पर्व ३]

इन पद्यों मे भगवान् का जन्माभिषेक क्षीर सागर के जल द्वारा ही वर्णित किया गया है।

"तं पाण्डुकवने रम्ये मन्दरस्य जिनं हरिः।
पाण्डुकायां प्रसिद्धायां शिलायां सिंहविष्टरे॥ ४१॥
संस्थाप्य विबुधानीत क्षीरसागरवारिभिः।
सातकुंभमयैः कुंभैरभिषिच्य समं सुरैः॥ ४२॥ [हरिवंश पुराण सर्ग ८]

अर्थ—सुमेरु पर्वत के भाग में पाण्डुक वन के बीच जो सिद्ध शिला है वहां पर भगवान को स्थापन कर के इन्द्र ने क्षीर सागर के जल के कलशों से भगवान का अभिषेक किया।

संघटैः सुरसंघातैः महावेगै महाघनैः।
सर्वदिक्षु गतैः क्षिप्रं शोभितः क्षीरसागरैः॥ १६३॥
क्षीराः पूर्णाः सुरैः क्षिप्ताः राजताः करतः करं।

सावर्णाश्च वक्षः कुंभाश्चन्द्रार्का इव मेरुगाः ॥ १६४ ॥
कुम्भैः निरन्तराराबैर्हुदेवसहस्रकैः ।
क्षीरांभोभिर्जिनेन्द्रस्य चक्रे जन्माभिषेचनं ॥ १६५ ॥ [हरिवंश पुराण सर्ग ८]

अर्थ—तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के समय इन्द्र अपने सुरपुर नगर से देवों के साथ सब दिशाओं को आच्छादित करते हुए नगरी में आया। (अनन्तर क्षीर सागर से जल लाकर भगवान् का जन्माभिषेक सुमेरु पर कराया उस का वर्णन निम्न प्रकार है) इन्द्र पंचम क्षीरसागर पर पहुंचा। वहां से रत्नमयी कलशों को क्षीरसागर के जल से भर कर सब देवों ने इन्द्र के हाथ में दिये। चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्ति के समान जल से भरे उन कलशों से इन्द्र ने बड़े उत्सव सहित भगवान् का जन्माभिषेक किया।

ये ग्रन्थ काष्ठासंघियों के बनाये हुए हैं। इन में भी क्षीरसागर के जल से ही अभिषेक वर्णित है। पंचामृताभिषेक से वर्णन नहीं किया गया है।

सकलकीर्ति आचार्य ने प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के २० वीं अध्याय में लिखा है कि—

"जिनांगं स्वच्छनीरेण क्षालयंति स्वभावतः ।
येऽत्र ते पापमलं तेषां क्षयं गच्छति धर्मतः ॥ १८६ ॥

अर्थ—जो स्वभाव से ही स्वच्छ जल से भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का अभिषेक करते हैं उन के उस धर्म के प्रभाव से सब पाप कर्म रूपी मैल नष्ट हो जाते हैं।

त्रिलोकसार के वैमानिक अधिकार में भी लिखा है—

"धम्मं पसंसि दूणं एहाद् आदेहमिसेयलंकारं ।
लद्धा जिणाभिसेयं पूजं कुव्वंति सादिट्ठी ॥ ५५२ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जे देव हैं ते उत्पाद शैय्या से उठते ही धर्म की प्रशंसा करि द्रह के विषैं स्नान कर अभिषेक अलंकार पाय जिनेन्द्र को अभिषेक पूजा करते भये।

यहां पर भी पंचामृत अभिषेक नहीं किया। द्रह (सरोवर) के जल का ही कथन किया है।

उत्तर पुराण के ६२ वें पर्व में लिखा है कि—

"विधाय विधिवद्भक्त्या शांतिपूजापुरस्सरं ।
महाभिषेकं लोकेशामर्हतां सचिवोत्तमाः ॥

अर्थ—भगवान् गुण भद्र स्वामी कहते हैं कि "मन्त्रियों में उत्तम जे हैं ते सर्वलोक के स्वामी अरहंत जे हैं तिनकी भक्ति कर यथाविधि शान्ति पूजा पूर्वक महाभिषेक करि राजा को अभिषेक करि सिंहासन में स्थापन करतो भयो"

वर्तमान चौबीसी का अभिषेक सुरनाथ (इन्द्र) ने सुमेरु पर्वत पर किया सो भी क्षीर समुद्र के जल से किया, यही बात निम्न प्रकार से उत्तर पुराण में लिखी है।

"तदा विधाय देवेन्द्रा मन्दरे सुंदराकृते ।
जन्माभिषेककल्याणमजिताख्यामकुर्वत ॥ २७ ॥ [अजितनाथ पर्व ४८]
"पौर्णमास्यामवापार्च्यमहमिन्द्र त्रिविधं तं ।
सजन्मोत्सवकल्याण प्रान्ते संभव इत्यभूत् ॥ [संभवनाथ स्वामी अ० ४६ पा० १६ श्लो० १६
"बालार्क सन्निभं बालं जलैः क्षीरापगापतेः ।
स्नापयित्वा विभूषाख्याप्रख्याप्यास्याभिनन्दनम्" ॥ [अभिनन्द स्वामी पर्व ५० पा. २६ श्लो. २२]
"देवेन्द्रास्तं तदानीत्वा मेरौ जन्ममहोत्सवं ।
कृत्वा सुमतिं संज्ञां च पुनस्तद्गृहमानयन् ॥ २४ ॥" [सुमतिनाथ पर्व ५१ पा, ५१]
तदानीमेव देवेन्द्रास्तं मेरौ क्षीरवारिभिः ।
स्नापयित्वा विधायानुमुदा पद्मप्रभाभिधां ॥ २६ ॥ [पद्म प्रभु स्वामी पर्व ५२ पा. ४५]
सुरेन्द्रैर्मन्दरस्यान्ते कृतजन्ममहोत्सवैः ।

तस्याकारि सुपार्श्वाख्या तत्पादानतमौ लिभिः ॥ २३ ॥ [सुपार्श्वनाथ स्वामी पर्व ५३ पा. ५२]

तदैवाभ्येत्य नाकीशो महामन्दरमस्तके ।
सिंहासनं समारोप्य सुस्नाप्य क्षीरवारिभिः ॥ १७१ ॥ [चन्द्रप्रभस्वामी पर्व ५४ पा. ७३]

क्षीराभिषेकं भूपांते पुष्पदन्ताख्यमत्र वम्
कुन्दपुष्पप्रभाभासि देदीप्त्या विराजते ॥ २८ ॥ [पुष्पदन्त स्वा० पर्व ५५ पा० ८८]

तदैवागत्य तं नीत्वा महामेरुमहोत्सवाः ।
देवा महाभिषेकान्ते व्याहरन्तिस्म शीतलम् ॥ २६ ॥ [शीतलनाथ भ० पर्व ५६ पा० ६५]

पंचमावारपारासक्षीरवारिघटोत्करैः ।
अभिषिच्य विभूष्येशं श्रेयानित्यवदन्मुदा ॥ २३ ॥ [श्रेयांसनाथ पर्व ५७ पा० १०५]

सुरासौधर्ममुख्यास्ते सुराद्रौ क्षीरसागरात् ।
घटैरानीय पानीयं स्नापयित्वा प्रसाधनं ॥ २३ ॥ [वासुपूज्य पर्व ५८ पा० ११५]

जन्माभिषेककल्याणप्रान्ते विमलवाहनं ।
तमाहुरमराः सर्वे सर्वसंस्तुति गोचरम् ॥ २२ ॥ [विमलनाथ पर्व ५६ पा० १२८]

तदागत्य मरुन्मुख्या मुख्यशैलेऽभिषिच्य तं ।
अनंतजिनमन्वर्थं नामानं विदधुर्मुदा ॥ २२ ॥ [अनन्तनाथ पर्व ६० पा० १५६]

तदैवानिमिषाधीशास्तं नीत्वाऽमरभूधरे ।
क्षीराब्धिवारिभिर्भूरि कार्तस्वर घटोद्धृतैः ॥ १६ ॥
अभिषिच्यविभूष्योच्चैर्धर्माख्यामगदन्मुदा ।
सर्वभूतहितश्रीमत् सद्धर्मपथदेशनात् ॥ २० ॥ [धर्मनाथ स्वामी ६१ पा० १६८]

अथशान्तिप्रदोदेवः शान्तिरित्यस्तुनाममाक् ।
इति तस्याभिषेकान्ते नामासौ निरवर्तयत् ॥ ४०६ ॥ [शान्तिनाथ पर्व ६३ पा० २६६]
तुरासहं पुरोधाय समभ्येत्य सुरासुराः ।
सुमेरुमर्भकं नीत्वा क्षीरसैन्धववारिभिः ॥ २२ ॥
अभिषिच्य विभूष्यैनं कुन्थुमाहूय संज्ञया । [कुन्थुनाथ पर्व ६४ पा० २८३]

(कुंन्थुनाथ स्वामी के समान ही अरहनाथ स्वामी के जन्म भिषेक का पर्व ६५ पृष्ठ २८८ में वर्णन है)

गत्वा चलेशं संस्थाप्य पंचमाब्धिपयोजलैः ।
अभिषिच्य विभूष्योच्चैर्मल्लिनामानमाजगुः ॥ [मल्लिनाथ पर्व ६६ पा० ३०६]
तज्जन्मसमयायातैः स्वदीप्तिव्याप्तदिग्मुखैः ।
मेरौ सुरेन्द्रैः संप्राप मुनिसुव्रतसुश्रुतिं ॥ २८ ॥ [मुनिसुव्रत पर्व ६७ पा० ३२१]
देवाद्वितीयकल्याणमभ्यपेत्यतदान्यधुः ।
नमिनामानमप्येनं व्याहरन्मोहभेदिनं ॥ ३१ ॥ [नमिनाथ पर्व ६९ पा० ४४०]
अनादिनिधनं बालमारोप्यार्कतेजसं ।
क्षीराम्भोधिपयः पूर्णसुवर्णकलशोत्तमैः ॥ ४४ ॥
अष्टाधिकसहस्रेण प्रमित्रैरमितप्रभैः ।
हस्ताद्धस्तं क्रमेणा शाधिनाथसमर्पितः ॥ ४५ ॥
अभिषिच्य यथाकाम मलंकृत्य यथोचितं ।
नेमिसद्धर्मचक्रस्य नेमिनामानमभ्यधात् ॥ ४६ ॥ [नेमिनाथ पर्व ७१ पा० ४६६]

जिस प्रकार ऊपर सब तीर्थंकरों का अभिषेक जल से ही वर्णन किया है उसी प्रकार नेमिनाथ स्वामी के अभिषेक का वर्णन भी

एक हजार आठ कलशों द्वारा जल से ही किया गया है।

जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम् ।
पार्श्वाभिधानं कृत्वाऽस्य पितृभ्यां तं समार्पयन् ॥ ९२ ॥ [पार्श्वनाथ पर्व ७३ पा० ५७२]
संप्राप्य मेरुमारोप्य शिलायां सिंहविष्टर—
मभिषिच्य ज्वलत्कुंभैः क्षीरसागरवारिभिः ॥ २७३ ॥ [महावीर स्वामी पर्व ७४ पा० ६०७]

इस प्रकार क्षीर सागर के जल से ही सब भगवानों के अभिषेक का वर्णन पाया जाता है।

पंचामृताभिषेक के पोषक सूर्य प्रकाश नामक ग्रन्थ में भी जलाभिषेक का ही प्रमाण मिलता है जैसे—

"जिनागारे हि त्वमपि कुंभमेकं जलभृतं ।
मुश्रत्वापि पुण्याप्तिः भविष्यत्येव मत्समा ॥ [सूर्य प्रकाश पा० ११९ श्लो० ५३७]

अर्थ—हे सखी तुमी एक पवित्र प्रासुक जल घड़ा भर कर भी जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के लिये जिन मंदिर में जाकर चढ़ा तुझ को भी मेरे समान पुण्य की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार उल्लिखित चतुर्विंशति तीर्थंकरों के अभिषेक का विधान सर्वत्र जल से ही पायागया है, पंचामृताभिषेक का विधान कहीं आर्ष ग्रन्थों में नहीं पाया जाता है। पक्षपातो से अपनी हठ एवं स्वार्थों द्वारा यह घड़ लिया गया है। जैन दिगम्बर सम्प्रदाय को ध्यान देकर जलाभिषेक ही करना योग्य है।

गुरूपास्ति

आचार्य पद्मनन्दी ने श्रावकों के प्रतिदिन करने योग्य जिनेन्द्र देव की पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुजनों की भक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, संयम, तथा योग्यतानुसार तप, दान, और गुरुओं की उपासना, यह छह आवश्यक क्रियायें बताई हैं। इन में देव पूजादि के समान 'गुरुपास्ति' भी अत्यावश्यकी क्रिया बतलाई है। कहा भी है—

मानुष्यं प्राप्य पुण्यात् प्रशममुपगतं रोगवद् भोगजालं ।
मत्वा गत्वा वनान्तं दृशि विदिचरणे ये स्थिताः संगमुक्ताः ॥
कः स्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगणैराश्रितानां मुनीनां ।
स्तोतव्यास्ते महद्भिर्भुवि य इह तदङ्घ्रिद्वये भक्तिभाजः ॥ ७१ ॥ [पद्मनन्दी पृ० ३७]

अर्थ—पुण्ययोग से मनुष्य-भव को पाकर शमत्व को प्राप्त होकर और भोगों को रोग तुल्य जानकर तथा वनमें जाकर समस्त परिग्रह से रहित होकर, जो यतीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र में स्थित होते हैं, जो कि वचनागोचर गुणों कर सहित हैं उन मुनियों की स्तुति कर सकते हैं, जो धार्मिक पुण्यवान् महात्मा पुरुष हैं।

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् ।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥ १६ ॥
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥ १७ ॥
गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनं ।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निष्तुषम् ॥ १८ ॥
ये गुरुं नैवमन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते ।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥ १९ ॥ [पद्मनन्दिय पञ्चविंशतिका]

अर्थ—भव्यजीवों को प्रातःकाल उठकर जिनेन्द्रदेव तथा गुरुओं के दर्शन करना चाहिये। तथा धर्म श्रवण पूर्वक उनकी भक्ति से वन्दना और स्तुति भी करनी चाहिये। क्योंकि इन के द्वारा धर्म लाभ होता है। धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में गणधरादि देवों के द्वारा धर्म ही मुख्य बतलाया गया है। जिन गुरुओं की कृपा हस्त रेखा के समान समस्त पदार्थ दर्शी केवल ज्ञान का मुख्य साधन सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है उस निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा ज्ञान के इच्छुकों को वन्दना सहित अवश्य करनी चाहिये। जो गुरुओं को नहीं मानते तथा उनकी सेवा वन्दना नहीं करते उनको सूर्य के होने पर भी अन्धकारही है। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य कृष्यादि गृह कार्य में अनुरक्त तथा पञ्चेन्द्रिय

विषय सेवी, साधु परमेष्ठियों की भक्ति स्तुति आदि नहीं करते वे लोग सम्यग्ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त नहीं हो सकते। अतः गुरुओं की भक्ति वन्दना स्तुति एवं सेवा करना गृहस्थ का प्रथम कर्तव्य है १६–१७–१८–१९

आगे गुरुओं के समीप त्याज्य क्रियायें बताते हैं—

"निष्ठीवनमवष्टम्भं जृंभणं गात्रभंजनम्।
असत्यभाषणं नर्म हास्यं पादप्रसारणम् ॥ १ ॥
अभ्याख्यानकरस्फोटं करेण करताडनं।
विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥ २ ॥"

अर्थ—थूंकना, गर्वकरना, झूंठा दोष आरोपण करना, हाथ ठोकना, खेलना, हंसना, पैर फैलाना, जंभाई लेना, शरीर मोड़ना, झूंठ बोलना, ताली बजाना, तथा शरीर के अन्य विकार करना, शरीर संस्कारित करना, इत्यादि क्रियायें करना गुरु के समीप वर्जित है।

और भी कहा है—

"देवान् गुरुन् धर्मं चोपाचरन् न व्याकुलमतिः स्यात्" [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—जो पुरुष देव, गुरु और धर्म की उपासना करता है, वह कभी दुःखी नहीं होता है। वह ऐहिक और पार लौकिक दोनों सुख प्राप्त करता है। इनकी उपासना करता हुआ व्याकुल न हो।

सच्चेगुरु का स्वरूप

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥ [रत्नकांड श्रावकाचार]

अर्थ—जो पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से रहित हो तथा इच्छा, आरम्भ–कृषि आदि व्यापार, और सुवर्ण धन धान्यादि परिग्रह से रहित हो, एवं ज्ञान ध्यान तथा तपस्या में संलग्न हो वह ही तपस्वी गुरु, प्रशंसनीय हो सकता है।

"सर्वसत्वहिताःशान्ताः स्वदेहेऽपि निरपृहाः ।
यतयो ब्रह्मतत्वस्था यथार्थ परिवादिनः ॥ १३ ॥
सर्वसावद्यसम्पन्नाः संसारारम्भवर्तिनः ।
सलोभाः समदासेर्ष्याः समानाः यतयोन ते ॥ १४ ॥ [यशः कीर्तिरचित प्रबोधसार]

अर्थ—जो सब प्राणियों के हितंकर, शान्त, अपने शरीर में ममत्व त्यागी, आत्मत्तत्व में लीन, और यथार्थ तत्त्व का कथन करने वाले हों वे सद् गुरु हैं और उनसे विपरीत पाप युक्त, सांसारिक आरम्भ करने वाले, लोभी, मद सहित, ईर्ष्या और मान युक्त हैं वे कुगुरु हैं। और भी कहा है—

"श्रेष्ठा गुणैर्गृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठतरो यतिः ।
यतेःश्रेष्ठतरो देवः न देवादधिकं परम् ॥ [यशस्तिलक ६ आश्वास]

अर्थ— गृहस्थ गुणों के कारण श्रेष्ठ कहलाता है और उससे श्रेष्ठ यति है और उससे भी श्रेष्ठ वीतराग सर्वज्ञ देव है। तात्पर्य यह है कि यहां पर यति एव गुरु को गुणों के आधिक्य से ही श्रेष्ठ कहा गया है और गुणों का आधिक्य गृहस्थ की अपेक्षा उनमें इस कारण कहा जाता है कि वे त्याग वृत्ति मे गृहस्थ से अधिक हैं। यदि उन में भी आरम्भादिक देखा जावे तो वे गुरु एवं श्रेष्ठ तथा गृहस्थ से अधिक प्रशंसनीय नहीं हो सकते। अतएव आरंभी साधुओं को कुगुरु कहा है। और भी कहा है—

"वस्तुन्येव भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भाक्तिके ।
नहारत्नेन रत्नाय भावो भवति भूतये ॥ १ ॥
अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् ।
अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥ २ ॥ [यशस्तिलक ६ आश्वास]

अर्थ - सच्ची वस्तु में जो भक्ति होती है वह शुभ फल के लिये होती है और वह ही कार्यकारिणी होती है। यदि कोई पुरुष पत्थर में रत्न बुद्धि कर बैठे तो सम्पत्तिशाली नहीं होता। अतः अदेव में देव बुद्धि करना, अव्रत में व्रत भावना, और अतत्व में तत्त्व

विज्ञान करना, मिथ्यात्व है उसको छोड़ देना चाहिये।

आगे गुरुओं के अवर्णवाद के विषय में लिखते हैं—

"स्व :शुद्धमपि व्योम वीक्षते यन्मलीमसं।
नासौ दोषोऽस्य किंतु स्यात् सदोषश्चक्षुराश्रयः॥ १॥
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते।
सलोहे कलिकालोकान्नूनं मुञ्चति काञ्चनम्॥ २॥ [यशस्तिलक ६ आ० पृ० २६४]

भावार्थ—जो पुरुष स्वतः शुद्ध आकाश के समान सुगुरुओं में भी देह की मलिनता देखकर उनकी निन्दा करता है वह पुरुष मैली लोह की कालिमा को देखकर उसमें रखे हुए सुवर्ण का भी अनादर करता है। किन्तु उसके अनादर करने से उसी की हानि होती है, उनकी महत्ता में कोई कमी नहीं आती।

आगे गुरुपासित के विषय में आचार्य अमितगति के प्रमाण लिखते हैं—

"ज्ञानचारित्रयुक्तो य गुरुर्धर्मोपदेशकः।
निर्लोभी तारको भव्यान् स सेव्यः स्वहितैषिणा॥ ४५॥
यस्तरति स्वयं सोऽन्यांस्तारयेत् स महागुरुः।
स्वयं मज्जति यः सोऽन्यान् कथं तारयितुं क्षमः॥ ४६॥
सग्रन्थाराधकोमूढः श्वभ्रतिर्यग्गतिं व्रजेत्।
निर्ग्रन्थसेवको धीमान् स्वर्गमोक्षादिकं व्रजेत्॥ ४७॥
योनिर्ग्रन्थगुरुं त्यक्त्वा कुगुरुं सेवते स [illegible]।
कल्पवृक्षं गृहद्वारे छित्वा धत्तूरकं वपेत्॥ ४८॥

अर्थ—जो गुरु सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से युक्त धर्म का उपदेशक, लोभ रहित, तथा भव्य पुरुषों का तारक तथा स्वयं भी संसार

समुद्र को तरने वाला हो वह ही सेवनीय है। जो गुरुस्वयं संसार समुद्र में डूबरहा है वह अन्य प्राणियों को भव सागर से किस प्रकार पार कर सकेगा ? और उस आरम्भी स्वयं डूबने वाले गुरु के उपासक भी नरक और तिर्यञ्चगति की प्राप्ति अवश्य करेंगे। अतः बुद्धिमानों को उचित है कि आरम्भ रहित एवं उल्लिखित सम्यग्दर्शनादि गुण सम्पन्न गुरु की ही उपासना करें जिससे स्वर्ग और मुक्ति सुख को प्राप्त कर सकें ? अन्यथा जो लोग निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित गुरु को छोड़कर कुगुरु की उपासना करेंगे वे इस प्रकार बुद्धि से हीन हैं जैसे कोई मूर्ख पुरुष अपने घर पर लगे हुए कल्प वृक्ष को काटकर धतूरा बोता है।

भक्ति क स्वरूप

"जिने जिनागमे सूरौ तपः श्रुतपरायणे ।
सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥ १ ॥ [यशास्तिलक चम्पू ३१६ पृष्ठ]

अर्थ—जिनदेव, जिनशास्त्र और तप तथा श्रुतमें तत्पर आचार्यों की अच्छे भाव पूर्वक और शुद्धि सहित प्रीति एवं अनुराग करने का नाम भक्ति तथा उपासना है। यहां प्रसंगवश आचार्य का लक्षण कहते हैं।

आचार्य का लक्षण

संग्रहानुग्रहप्रौढ़ो रूढ़ः श्रुतचरित्रयोः ।
यः पंचविधमाचारमाचारयति योगिनः ॥ ३२ ॥ [आचारसार अ० २]

अर्थ—शिष्योंका संग्रह अनुग्रह करने में प्रौढ़कहिये चतुर (समर्थ), श्रुत अर चारित्र विषै आरूढ़ अन्य योगियों (मुनियों) को पांच प्रकार के आचार को आचरावे और आप आचरण करे, ऐसा आचार्य होता है।

अपि छिन्नव्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ [पंचाध्याय । ६४६ अ० २]

अर्थ—जिस किसी साधु का व्रत भंग हो जाय, उसको प्रायश्चित देकर शुद्ध करदेते हैं और दीक्षा देकर शिष्यों का हित करते

हैं, यही आचार्यों का कर्तव्य है।

उपाध्याय का लक्षण

ग्यारह अंग वियाणइ, चउदहपुव्वाणि णिखसेसोणि।
पणवीसं गुणजुत्ता णाणाए तस्स उवझाओ॥ [विद्वज्जन बोधक पृ० ४२१]

अर्थ—ग्यारह अंगों को और चौदह पूर्वों को जानने वाले उपाध्याय कहलाते हैं।

(१) ग्यारह अंगों के नाम—

(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञातृधर्म कथांग (७) उपासकाध्ययनांग (८) अन्तकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपाददशांग (१०) प्रश्नव्याकरणांग (११) विपाक सूत्रांग। (१२) दृष्टिवादनाम अङ्ग के पांच भेद हैं। (१) परिकर्म (२) सूत्र (३) प्रथमानुयोग (४) पूर्वगत (५) चूलिका।

(२) चौदह पूर्वों के नाम—

(१) उत्पादपूर्व (२) आग्रायणीय (३) वीर्यानुवाद (४) अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व (५) ज्ञानप्रवादपूर्व (६) सत्यप्रवाद (७) आत्मप्रवाद (८) कर्मप्रवाद (९) प्रत्याख्यानपूर्व (१०) विद्यानुवाद (११) कल्याणवाद (१२) प्राणवाद (१३) क्रियाविशाल (१४) त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व। इस प्रकार ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता पुरुष उपाध्याय कहलाते हैं। वे संघ में मुनियों को पढ़ाते हैं। इनको उपाध्याय पद आचार्यों द्वारा दिया जाता है।

(३) तपस्वी—

जो पर पदार्थों में निर्ममत्व रखते हैं वेही साधु तप कर सकते हैं। जिनको अपने शरीर से भी ममत्व नहीं है वेही साधु द्वादश प्रकार का तप तथा आतापनयोग, वृक्ष मूलयोग, तथा अभ्रावकाश योग, धारणकर कर्मों पर विजय प्राप्त कर सदा के लिये सुखी हो जाते हैं। वेही साधु धन्य गिने गये हैं। जो एक मास, दो मास, एक उपवास, दो उपवास, पक्ष, मास, छै मास, एक वर्ष भरतक के उपवास करते तथा अंगुष्ठ का सहारा ले कर खड़े रहते हैं, उनको सिद्धान्तों में तपस्वी कहा है।

(४) शैक्ष—

जो श्रुत ज्ञान के अभ्यास में अपनी आत्मा को लगाकर ज्ञान की वृद्धि कर मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त हो, जिससे संसार घटे और आत्मिक शक्ति बढ़े। यही शिष्यों का कार्य है।

(५) ग्लान—

असाता आदि कर्मों के निमित्त से जिनका शरीर अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित क्लेश सहित है, परन्तु फिर भी रोगों को उपचार में जिनकी भावना नहीं है वे ग्लान कहलाते हैं।

(६) गण—

जिनका अध्ययन करने से ज्ञान बहुत बढ़ा बढ़ा हो और महत (बड़े) मुनियों की गिनती हों सो गण कहलाते हैं।

(७) कुल—

वर्त्तमान आचार्यों की दीक्षा सहित जो शिष्य हों, सो कुल कहलाते है।

(८) संघ—

चार प्रकार का संघ जैसे मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका अथवा यति, मुनि, अनगार और साधु अथवा देव ऋषि, राज ऋषि, ऋद्धि ऋषि और ब्रह्म ऋषि इस प्रकार संघ कहलाता है।

(९) साधु—

जो मुनि बहुत काल से दीक्षित हो और जिनने बहुत प्रकार के उपसर्ग, तथा परीषह जीते हों और आर्त्त रौद्र परिणाम जिन के नहीं होते हों, वह साधु कहलाते हैं।

(१०) मनोज्ञ—

जिनका उपदेश लोक मान्य हो तथा जिन की आकृति को देखकर लोगों के दिल में स्वयं पूज्यता के भाव पैदा हो जायँ, और

सर्व मुनि संघ में जो मनोज्ञ हो तथा समस्त लोग जिन को विद्यावान समझे और श्रेष्ठ लखाहीं, महान कुलवान हो, और जैन मार्ग का गौरव रखते हों, मनोज्ञ कहलाते हैं।

इन दश प्रकार के साधुओं का वैयावृत्य जरूर करना चाहिए।

आगे साधुओं की प्रशंसा करते हैं—

"अथ निर्णीततत्त्वार्थाः धन्याः संविग्नमानसाः।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः ॥ १ ॥
भवभ्रमणनिर्विण्णाः भावशुद्धिं समाश्रिताः।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥ २ ॥ [ज्ञानार्णव शुभचन्द्राचार्य]

अर्थ—जो संयमी मुनि तत्त्वार्थ का यथार्थ स्वरूप जानते हैं मन में संवेगरूप हैं, मोक्ष तथा उसके मार्ग में अनुरागी हैं और संसार जनित सुखों में निःस्पृह वांछा रहित हैं, वे मुनि धन्य एवं प्रशंसनीय हैं।

संसार के भ्रमण से निर्वेद को प्राप्त हुए, भाव शुद्धि से सम्पन्न, इस पृथ्वी तल पर कुछ ही पुण्यशाली योगी हैं।

और भी कहा है—

"विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहावसतिका शय्या शिला पार्वती।
दीपाश्चन्द्रकराः मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ॥
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां।
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः ॥ २१ ॥
दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचयाः विज्ञानशून्याशयाः।
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ॥

आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं ।
ये मुक्त र्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्राः यदि ॥ २४ ॥
निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पंचाक्षकक्षान्तकाः
ध्यानध्वान्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधेः पारगाः ॥
लीलोन्मूलितकर्मकन्द.नचयाः कारुण्यपुण्याशयाः ।
योगीन्द्राः भवभीमदैत्यदलनाः कुर्वन्ति ते निर्वृतिम् ॥ २० ॥
यैः सुप्तं हिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगर्भान्तरे ।
पल्यङ्के परमोपधानरचिते दिव्याङ्गनाभिः सह ॥
तैरेवाद्य निरस्तविश्वविपर्यैरन्तः स्फुरज्ज्योतिषि ।
योगीरन्ध्रशिलादिकोटरगतैर्धन्या निशा नीयते ॥ २१ ॥ [ज्ञानार्णव पञ्चमसर्ग]

अर्थ—जिन प्रशान्तात्मा मुनि महाराजाओं के विन्ध्याचल पर्वत नगर हैं, पर्वत की गुफायें वसतिका (गृह) हैं, पर्वत की शिला शय्या समान है, चन्द्रमा की किरणें दीपक तुल्य हैं, मृग सहचरी हैं, सर्व भूतों पर मैत्री कुलीन स्त्री है, पीने का जल विज्ञान है, तप ही उत्तम भोजन है, वेही धन्य हैं। ऐसे मुनिराज हमको संसार रूपी कर्दम से निकालने का उपदेश देने वाले हों।

बुद्धिबल से वस्तु समूह को लोपने वाले (नास्तिक) सत्यार्थज्ञान से शून्य चित्तवाले तथा अपने विषयादिक के प्रयोजन में उद्यमी, ऐसे प्राणी तो घर २ विद्यमान हैं। परन्तु आनन्द रूप अमृत के समुद्र के कण समूह से संसार रूप ज्वर के दाह को—अग्नि को बुझाकर मुक्ति रूपी स्त्री के मुख रूपी चन्द्रमा के विलोकन करने में जो तत्पर हैं वे यदि हैं तो दो तीन ही होंगे।

जिन्होंने चित्तरूपी प्रचण्ड पक्षी को निश्चलकर दिया है, पञ्चेन्द्रिय रूपी वन को जला दिया है, ध्यान से समस्त पापों का नाश करदिया है विद्या रूप समुद्र के पारगामी हैं, क्रीडा मात्र से कर्मों के मूल को उखाड़ने वाले हैं, करुणा भाव रूप पुण्य से पवित्र चित्त वाले हैं और संसार रूप भयानक दैत्य को चूर्ण करने वाले हैं वे योगीन्द्र भव्य प्राणियों को मुक्ति के दाता होवें।

जिन्होंने पूर्वावस्था में हिमालय के शिखर समान सुन्दर महलों में उत्कृष्ट उपधान हंस तूलादि से रची हुई शय्यामें सुन्दर

स्त्रियों के साथ शयन किया था वेही समस्त संसार के विषयों के निरस्त करने वाले पुण्यशाली पुरुष अन्तरङ्ग में ज्ञान ज्योति के स्फुरण होने से पृथ्वी में तथा पर्वतों की गुफाओं में एवं शिलाओं पर अथवा वृक्ष के कोटरों में प्राप्त होकर रात्रि व्यतीत करते हैं, वे धन्य हैं।

और भी कहा है—

"आत्मन्यात्मप्रचारे कृतसकलवहिः संगसन्यासवीर्या-
दन्तः ज्योतिप्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः।
निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा-
तस्य श्री बोधवार्धेर्दिशतु तव शिवं पाद पङ्केरुहश्रीः ॥ २७ ॥ [ज्ञानार्णव पंचम सर्ग]

अर्थ—जिसकी आत्मा में अपना प्रवर्तन है पर द्रव्य में नहीं है और बाह्य परिग्रह त्याग से, तथा अन्तरङ्ग विज्ञान ज्योति के प्रकाश होने से जिस के महामोह रूप निद्रा का उत्कर्ष नष्ट होगया है, और जिसको स्वरूप का निश्चय होने से यह जगत शून्यवत् वा जड़ वत् प्रतिभासता है, ऐसे ज्ञान समुद्र मुनि के चरण कमल की लक्ष्मी तुम को मोक्ष पद प्रदान करे।

और भी कहा है—

समुद्यतास्तपसि जिनेश्वरोदिते, वितन्वते निखिलहितानि निः स्पृहा।
सदा न ये मदनमदैरपाकृताः, सुदुर्लभाः जगति मुनीशिनोऽत्र ते ॥ ६६५ ॥ [सुभाषितरत्नसंदोह

अर्थ—जो मुनिराज तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा कहे हुए आभ्यन्तर तपों (प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान) तथा बहिरङ्ग तपों (अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, और काय क्लेश) में प्रवृत्ति करते हैं, एवं कामनाओं से रहित होकर समस्त संसार को कल्याण का मार्ग बताते हैं, काम वासनाओं से रहित ऐसे मुनीश्वर संसार में दुर्लभ हैं। ६६५

"न कुर्वते कलिलविवर्धनक्रियाः, सदोद्यताः शमयमसंयमादिषु।
रता न ये निखिलजनक्रियाविधौ, भवन्तु ते मम हृदये कृतास्पदाः ॥ ६८० ॥

न रागिणः क्वचनदोषदूषिता; न मोहिनो भवभयभेदनोद्यताः ।
गृहीतसन्मननचरित्रदृष्टयो भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधनाः ॥ ६८४ ॥
तनूभृतां नियमतपोव्रतानि ये, दयान्विता ददति समस्तलब्धये ।
चतुर्विधो विनयपरायणो सदा, दहन्ति ते दुरितवनानि साधवः ॥ ६८६॥ [सुभाषितरत्नसंदोह]

अर्थ—जो मुनिराज पापवर्धक क्रियायें नहीं करते, शम—शान्ति, दम—इन्द्रियों का दमन, और संयम—प्राणि संयम तथा इन्द्रिय संयम में तत्पर हैं और सांसारिक कृषि वाणिज्य आदि व्यापार एवं क्रियाओं से दूर रहते हैं वे मुनिराज हमारे हृदय में विराजमान रहें। ६८०

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के पालक, सांसारिक दुःखों के नाशक, इष्ट वस्तु में राग रहित, अनिष्ट वस्तु में द्वेष रहित, तथा मोह और अज्ञान से दूर, ऐसे तपस्विजन हमारे मन में हर्ष उत्पन्न करें। ६८४।

जो दयालु मुनिराज, प्राणियों को मोक्ष पद की प्राप्ति के निमित्त भूत नियम, तप, और व्रत रूप धार्मिक क्रियाओं का उपदेश करते हैं तथा चार प्रकार के संघ की विनय करते हैं, वे मुनिराज आप के पाप रूपी वन को जलावें। ६८६।

मुनियों के सार्थकनाम

आगे मुनियों के जो अनेक नाम हैं उन को निरुक्ति पूर्वक सप्रमाण दिखाते हैं—

"तत्तद् गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृताः ।
निरुक्तिं युक्तितस्तेषां वदतो मन्निबोधत ॥ १ ॥
मानमायामदामर्षक्षपणात् क्षपणः स्मृतः ।
यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः ॥ २ ॥
यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे ।
यः सर्वसङ्गसंत्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥

रेषणात् क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः ।
मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥ ४ ॥
यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् ।
योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः ॥ ५ ॥
यः कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते ।
पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्धएव सः ॥ ६ ॥
निर्ममो निरहंकारो निर्मानमदमत्सरः ।
निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः ॥ ७ ॥
श्रुते व्रते प्रसंख्याने संयमे नियमे यमे ।
यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनूचानः प्रकीर्तितः ॥ ८ ॥
योऽवस्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः ।
समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्रवानिह गीयते ॥ ९ ॥
कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् ।
येनेदं साधितं स स्यात् कृती पञ्चाग्निसाधकः ॥ १० ॥
संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृतः ।
तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ॥ ११ ॥
कर्मात्मनोर्विवेक्ता यः क्षीरनीरसमानयोः ।
भवेत् परमहंसोऽसौ नाग्निवत् सर्वभक्षकः ॥ १२ ॥
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च ।
नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥ १३ ॥

पञ्चेन्द्रियप्रवृत्ताख्यास्तिथयः पञ्चकीर्तिताः ।
संसारे श्रेयहेतुत्वात्ताभिमुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥ १४ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु यज्ञो यस्य दिने दिने ।
स पुमान् दीक्षितात्मा स्यान्नत्वजादियमाशयः ॥ १५ ॥
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्व हिताशयः ।
सश्रोत्रियो भवेत् सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान् ॥ १६ ॥

[यशस्तिलक पृष्ठ ४११—४१२]

अर्थ—जिस गुण की प्रधानता से मुनियों के नामान्तर हैं उनको निरुक्ति के साथ लिखते हैं।

१. क्षपणक—अभिमान, छलकपट, मद, एवं क्रोधादिके क्षपण (क्षय) करने से कहते हैं।
२. श्रमण—तपश्चर्या रूप श्रमके कारण कहते हैं।
३. आशाम्बर—दिगम्बर—आशा—दिशा, रूप वस्त्र धारण करने से कहते हैं।
४. नग्न—परिग्रह रहित एवं वस्त्र के भी न होने से कहते हैं।
५. ऋषि—सांसारिक दुःख के क्षय के कारण कहते हैं।
६. मुनि—अध्यात्म विद्याओं के मनन में कहते हैं।
७. अनगार—शरीर रूप मकान से त्याग एवं ममत्वाभाव से हैं।
८. यति—हिंसादि पंचपाप से दूर रहने के प्रयत्न से कहते हैं।
९. मुमुक्षु—संसार से छूटने की इच्छा से कहा है।
१०. निर्मम—ममत्व रहित होने से कहा है।
११. निरहंकार—अहंकार न होने से कहा है।
१२. निर्वाण मदमत्सर—अहंकार और ईर्ष्या के अभाव से कहते हैं
१३. समधी—निन्दा और स्तुति में समान रहने से कहाते हैं।
१४. शंसितव्रत—व्रत नियम प्रशंसित होने से कहते हैं।

१५. अनूचान—मानसिक वृत्ति, व्रत संयम यम नियमादि पालन से कहते हैं।
१६. अनाश्वान्—स्थायि रूप से मोक्ष मार्ग में तल्लीन होने के कारण तथा इन्द्रिय विजयी एवं समस्त प्राणियों से विश्वसनीय होने से कहलाते हैं।
१७. पंचाग्निसाधक—काम १ क्रोध २ मद ३ माया ४ और लोभ ५ पांच अग्नियां हैं इनको बुझाने के हेतु से हैं।
१८. शिखोच्छेदी—संसार रूपी अग्नि की शिखा (ज्वाला) के उच्छेदन से कहते हैं।
१९. परमहंस—दूध और पानी के समान मिश्रित आत्मा और कर्म को जुदा करने के कारण कहते हैं।
२०. तपस्वी—इच्छाओं के निरोधन रूप तप से मन एवं इन्द्रियों पर विजय करने से कहते हैं।
२१. अतिथि—मुक्तिमार्ग उपदेशन में तिथि निर्धारित न करने के कारण कहा गया है।
२२. दीक्षितात्मा—प्रति दिन दया रूपी यज्ञ से दीक्षित होने से कहते हैं।
२३. श्रोत्रिय—समस्त प्राणियों की कल्याण भावना, पाप के राहित्य, तथा पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति न होने से कहते हैं।

इस प्रकार सार्थक नामधारी गुरुओं की उपासना सेवा भक्ति आहार औषध शास्त्रादि दान देकर आत्म—कल्याण करना श्रावकों का कर्तव्य है

मूल संघ के अतिरिक्त जैन संघ

अब मूल संघ के अतिरिक्त दूसरे जैन संघों का वर्णन करते हैं।

उन्मार्गियों का कथन

भरते पंचमकाले, नानासंघसमाकुलम्।
वीरस्य शासनं जातं, विचित्रा कालशक्तयः ॥२॥ [नीतिसार]

अर्थ—इस जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में हुण्डावसर्पिणी काल दोष से भगवान वर्धमान स्वामी का दिव्य शासन भी अनेक संघों वाला होगया। काल की शक्ति विचित्र होती है।

स्वर्गे गते विक्रमार्के भद्रबाहौ च योगिनि।
प्रजा स्वच्छंदाचारिण्यो बभूवुः पापमोहिताः ॥ ३ ॥ [नीतिसार]

अर्थ—विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त तथा निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु योगीश्वर के स्वर्ग प्राप्त होने पर प्रजा (जनता) स्वच्छन्द चारिणी (निरर्गल) तथा पाप मोहित होगई।

यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां, परमार्थविदामपि।
स्वपराध्यवसायत्वमोविरासीदतिक्रमम् ॥ ४ ॥ [नीतिसार]

अर्थ—उस समय बड़े बड़े ब्रह्म ज्ञानी और परमार्थ (मोक्ष पुरुषार्थ) के ज्ञाता ब्रह्मर्षियों के भी न्यायोल्लंघन करना प्रगट (व्यक्त) होगया। यह हमारा निकट सम्बन्धी है, यह दूर है, तथा पर है भिन्न है, इसके लिये यह कायदा कानून है, तथा यह हमारा आज्ञाकारी शिष्य है, यह दूसरों का दीक्षित है, इसके लिये ऐसा प्रायश्चित है। इत्यादि शिक्षा भेद होने लगा, जिससे जाति व्यवस्था, कुल मर्यादा और आश्रम व्यवस्था भी बिगड़ने लगी। और मत मतांतर अनेक प्रकार के होने लगे। वेही यहाँ बताये जाते हैं।

मूल संघ के भेद

सिंहसंघो नन्दिसंघः सेनसंघो महाप्रभः।
देवसंघ इति स्पष्टं, स्थानस्थितिविशेषतः ॥ ७ ॥ [नीतिसार]

अर्थ—मूल संघाम्नाय में (१) सिंहसंघ (२) नन्दि संघ (३) सेन संघ (४) देव संघ ये चार संघ तो मूल संघ में रहे और इनके अतिरिक्त और जो संघ हुए सो जैनाभास संघ गिने गये हैं।

कियत्यपि ततोऽतीते, काले श्वेताम्बरोऽभवत्।
द्राविडो यापनीयश्च, काष्ठासंघश्च मानतः ॥ ८ ॥ [नीतिसार]

अर्थ—भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष के पश्चात् (कुछ काल व्यतीत होने के बाद, अहंकार के वश से (अभिमान से) उन

जैनों मे से श्वेताम्बर, द्राविड़, यापनीय और काष्ठासंघ निकले हैं ॥ ५ ॥

मत प्रवर्तक

उसहजिणपुत्तपुत्तो मिच्छत्तकलंकिदो महामोहो ।
सव्वेसिं भट्ठाणं धुरिगणिओ पुव्व सूरीहिं ॥ २ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—तृतिय काल के अन्त में भगवान् ऋषभ देव का पोता महा मिथ्यात्वी मारिच कुमार, तमाम मतों का प्रवर्तक (अगुआ) हुआ ।

सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो ।
पिहिया सवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तिमुणी ॥ ६ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलास नगर में पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धि कीर्ति महा श्रुत का पाठी था, उसने रक्ताम्बर नाम का एकान्त मत चलाया, उसने शराब (मदिरा) मांस तथा सचित्त कोई अनुचित पदार्थ नहीं, जैसे अनाज (धान्य) जल वैसेही सब पदार्थ (वस्तुयें) हैं । इन के सेवन में कोई दोष नहीं है ।

श्वेताम्बर मत

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—नृप विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के वलभीपुर में श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ । उसने ऐसा मत चलाया कि स्त्री उसी भव से मोक्ष जाती है । भगवान् केवली कवलाहार करते हैं । और उन्हें रोग भी होता है । वस्त्र धारण करने वाले मुनि होते हैं । गृहस्थ पणे में केवल ज्ञान पैदा होता है । गर्भ हरण होता है । जुगलिया मरण से स्त्री विधवा हो जाती है । जिन मुद्रा के अलावा मोक्ष जाते हैं । साधु चौदह प्रकार के परिग्रह रख सकते हैं । प्रासुक भोजन कहीं से भी ले लेना चाहिये ।

विपरीत मत की उत्पत्ति

सुव्वयतित्थे उज्झो खीरकदंबुत्ति सुद्धसम्मत्तो ।
सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तो वि य पव्वओ वक्को ॥ १६ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—बीसवें तीर्थकर मुनि सुव्रत स्वामी के समय में क्षीर कदंब उपाध्याय के शिष्य "नारद" पर्वत और राजावसु इन्होंने विपरीत मत की स्थापना की कि जीव मारने में कोई पाप नहीं। ऐसा करने से सप्तम नरक में पर्वत और राजा व सुगये।

वैनयिक मत की उत्पत्ति

सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाणं समुब्भवो अत्थि ।
सजडा मुंडिया सीसा सिहिणो णंगाय केई य ॥ १८ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—सब ही तीर्थकरों के बारे में वैनयिकों का उद्भव होता रहा है। उनमें कोई जटाधारी, कोई मुंडे, कोई शिखाधारी, कोई लटा धारी, और कोई नग्न रहे हैं।

इन का विचार ऐसा कि चाहे कोई कैसा भी हो सब में समानता से भक्ति करना, सबही देवों में दण्ड की तरह आडे पड़कर (साष्टांग) नमस्कार करना, इस प्रकार के सिद्धान्तों को उनने सब लोगों में चलाया।

अज्ञान मत की उत्पत्ति

सिरिवीरणाहतित्थे बहुस्सुदो पाससंघ गणि सीसो ।
मक्कडि पूरणसाहू अण्णाणं भासए लोए ॥ २० ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—महावीर भगवान के तीर्थ में पार्श्वनाथ तीर्थंकरके संघ के किसी गणि का शिष्य मस्करी पूर्णनाम का साधु था। उसने ऐसा उपदेश दिया कि अज्ञान से मोक्ष होता है, और मुक्त जीव में ज्ञान नहीं रहता। जीवों का पुनरागमन नहीं होता, अर्थात् वे

मरकर फिर जन्म नहीं लेते, और उन्हें भव भव में भ्रमण नहीं करना पडता है ॥ २१ ॥

सारे जीव लोक का एक परमात्मा कर्त्ता है, शून्य और अमूर्तिक रूप ध्यान करना चाहिये तथा वर्ण भेद नहीं मानना चाहिये। इस प्रकार उसने उपदेश दिया।

द्राविड संघ की उत्पत्ति

सिरिपुज्जपादसीसो द्राविड संघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुड वेदी महासत्तो ॥ २४ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—श्री पूज्यपाद या देवनन्दि आचार्य का शिष्य वज्रनन्दि द्राविड संघ का उत्पन्न करने वाला हुआ। यह प्राभृत ग्रन्थों का ज्ञाता और महा पराक्रमी था। मुनि राजों ने इसको अप्रासुक या सचित्त पदार्थों के खाने से रोका, पर यह नहीं माना। बिगड कर विपरीत प्रायश्चित्तादि शास्त्रों की रचना की॥ २५ ॥

उसके विचारानुसार बीजों में जीव नहीं है, मुनियों को खड़े भोजन नहीं करना, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है। वह सावद्य भी नहीं मानता और गृह कल्पित अर्थ को भी नहीं गिनता। २६॥

कछार, खेत, वसतिका, और वाणिज्यादि करना, शीतल जल में स्नान करना, उसने ऐसा उपदेश दिया कि मुनि लोग खेती करावे, रोजगार करावे, वसतिका बनवावे, तथा अप्रासुक जल में स्नान करने में दोष नहीं है। २७॥

विक्रम राजा की मृत्यु के ५२६ वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा (मदुरा) नगर में यह महा मोह रूप द्राविड संघ उत्पन्न हुआ।

यापनीय संघ की उत्पत्ति

कल्लाणे वरणयरे सत्तसए पंच उत्तरे जादे।
जावणिय संघ भावो सिरि कलसादोहु सेवडदो ॥ २९ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—कल्याण नाम के नगर में विक्रम नृप की मृत्यु के ७०५ वर्ष बीतने पर श्री कलशनाभ श्वेताम्बर साधु से यापनीय संघ का सद्भाव हुआ।

काष्ठासंघ की उत्पत्ति

सिरिवीरसेणसीसो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी।
सिरिपउमनंदिपच्छः चउसंघसमुद्धरणधीरो ॥ ३० ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—श्री वीर सेन स्वामी के शिष्य जिन सेन स्वामी सकल शास्त्रों के ज्ञाता हुए। श्री पद्मनन्दि या कुन्दकुन्दाचार्य के बाद येही चारों संघ के उद्धार करने मे समर्थ हुए।

इनके पीछे विनयसेनाचार्य हुए, फिर उनके बाद गुणभद्र स्वामी हुए। दूसरा शिष्य कुमार सेन हुआ सो संन्यास से भ्रष्ट होकर प्रायश्चित नहीं लिया और जब उस को समझाया तो नाराज होकर उसने उल्टामत चलाया। इसकी कथा पहले लिख चुके हैं।

इसने ऐसा उपदेश दिया कि मुनियों को मयूर–पिच्छिका का त्याग कर, चमर तथा गौ के बालों की पिच्छिका रखना चाहिये। इसने सारे वागड़प्रान्त में उन्मार्ग का प्रचार किया।

उसने स्त्रियों को दुबारा दिक्षा देना, और क्षुल्लकों को वीर चर्या करना, मुनियों को कड़े बालों की पिच्छी रखने का, और रात्रि भोजन छुठे गुण व्रत का विधान किया। इसके उपरान्त उसने अपने आगम, शास्त्र, पुराण और प्रायश्चित ग्रन्थों को और ही प्रकार के रचकर मूर्ख लोगों मे मिथ्यात्व का प्रचार किया।

विक्रम राजा की मृत्यु के ७५३ वर्ष बाद नन्दी तट ग्राम में कुमार सेन द्वारा यह काष्ठासंघ उत्पन्न हुआ।

माथुर संघ की उत्पत्ति

तत्तो दुसएतीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥ ४० ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—काष्ठा संघ के बाद २०० वर्ष पश्चात् अथात् विक्रम की मृत्यु के ९५३ वर्ष बाद मथुरा नगरी में माथुर संघ का प्रधान गुरू रामसेन हुआ। उसने निपिच्छिक रहने का मुनियों को उपदेश किया। मुनियों को न मोर पंखों की पिच्छिका और न बालों की पिच्छिका की जरूरत है ऐसा कह इसने पिच्छी सर्वथा ही हटादी।

जिन बिम्ब अपने द्वारा प्रतिष्ठित और अन्य के द्वारा प्रतिष्ठित में न्यूनाधिक भाव से पूजा वन्दना करने, यह मेरे गुरू हैं, यह मेरे गुरू नहीं हैं, इस प्रकार के भाव रखने, अपने गुरू का मान रखना और दूसरे के गुरू का मान भंग करना आदि उपदेश दिया।

भिल्लक संघ की उत्पत्ति

दक्खिणदेसे विंझे पुक्कलए वीरचंद मुणिणाहो।
अट्ठारसएतीदे भिल्लयसंघं परूवेदि ॥ ४५ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—दक्षिण देश में विन्ध्य पर्वत के समीप पुष्करनाम के ग्राम में वीरचन्द्रनाम का मुनिपति विक्रम राजा की मृत्यु के १८०० वर्ष बीतने पर भिल्लक संघ को चलायगा। वह अपना एक जुदा गच्छ बनाकर जुदाही प्रतिक्रमणविधि बनायगा, भिन्न क्रियाओं का उपदेश देगा और वर्णाचार का विवाद खड़ा करेगा। इस तरह वह सच्चे जैन धर्म का नाश करेगा।

इन जैनाभासियों के अलावा दिगम्बर ही रहने वाले, इस जैन धर्म में शिथिलाचारी उन्मार्गी साधु (विपरीतमार्गी) और हैं उनका यहां थोड़ा वर्णन करते हैं। ये पात्र दृष्टि से बहुत ही गिरे हुए हैं, इन को पूज्य दृष्टि से देखने पर महा पाप लगता है। उनका यहां पर किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

जिन को जैन सिद्धान्त पार्श्वस्थ शिथिलाचारी कहता है उनका भी थोड़ा दिग्दर्शन कराते हैं। जो जैन गुरू पने के घमण्ड में चकचूर, परन्तु जैन नहीं, वे वैयावृत्य करने योग्य नहीं है।

पासत्थो य कुसीलो संसत्तो सयणा मिगचरितो य।
दंसणणाणा चरित्ते अणिउत्ता मंद संवेगा ॥ ९६ ॥ [मूलाचारपञ्चाव]

टीका—सयतगुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः, वसतिकादि प्रतिबद्धो मोहबहुलो रात्रिंदिवमुपकरणानां कारकोऽसंयतजनसेवी सयतजनेभ्यो दूरीभूतः कुत्सितं शीलं आचरणं स्वभावो वा यस्यासौ कुशीलः, क्रोधादिकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीनः संघस्यायशःकरणकुशलः सम्यगसंयतगुणेष्वाशक्तः सशक्तः आहारादि गृद्धया वैद्यमंत्रज्योतिषादिकुशलत्वेन प्रतिबद्धो राजादिसेवातत्परः ओसण्णोऽपगतसंज्ञोऽपगता विनिष्टा संज्ञा सम्यग्ज्ञानादिकं यस्यासौ अपगतसंज्ञश्चारित्राद्यपहीनो जिनवचनमजानश्चारित्रादिप्रभ्रष्टः करणालसः सांसारिकसुखमानसः मृगस्येव पशोरिव चरित्रमाचरणं यस्यासौ मृगचरित्रः परित्यक्ताचार्योपदेशः स्वच्छन्दगतिरेकाकी जिनसूत्रदूषणस्तपः सूत्राद्यविनीतो धृतिरहितश्चेत्येते पंच पार्श्वस्था दर्शनज्ञानचरित्रेषु, अनियुक्ताश्चारित्राद्यनुष्ठानपरामंदसंवेगास्तीर्थे धर्माधिकृतहर्षः सर्वदा न वदनीया इति ॥ ९६ ॥

दंसणणाणचरित्ते तव विणए णिच्चकाल पासत्था ।

एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेहीगुणधराणं ॥ ९७ ॥

टीका—दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयोभ्यो नित्यकालं पार्श्वस्था दूरीभूता यतो त एते न वंदनीयाश्छिद्रप्रेक्षिणः सर्वकालं गुणधराणां च छिद्रान्वेषिणः संयतजनस्य दोषोद्भाविनो यतो न वदनीया एतेऽन्ये चेति ॥ ९७ ॥

अर्थ—सयमी के निकट रहने वाला, क्रोधादि से मलिन, लोभ से राजादिकों की सेवा करने वाला, शास्त्र ज्ञान से रहित, जिन सूत्र में दोष देने वाला ये पांच प्रकार के (१) पार्श्वस्थ (२) कुशील (३) संसक्त (४) अवसन्न (५) मृगचारी हैं। इनका भेष दिगम्बर जैसा होता है परन्तु अवगुणी होने सेवदनीय नहीं हैं।

ये जो ऊपर बतलाये हैं ये कहने मात्र के साधु हैं। ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनयादि से सदा काल दूर रहते हैं। संयमियों के सदा दोषों को देखने वाले पार्श्वस्थादि हैं, इसलिये ये नमस्कार करने योग्य नहीं हैं।

इन पांच प्रकार के साधुओं का खुलासा चारित्र सार मे पृ० ६३ वार्तिक रूप में इस प्रकार है—

पार्श्वस्थ का स्वरूप

पार्श्वस्थ—तत्र या वसतिषु प्रतिबद्धउपकरणोपजीवी च श्रमणानां पार्श्वे तिष्ठति स पार्श्वस्थः।

अर्थ—वसतिका के विषे प्रतिबद्ध कहिये अपणा कर रहे हैं, और उपकरणों का संग्रह करें, और उनको सुधारे, उनसे जीविका

करें तथा महामुनियों के पास में रहे सो पार्श्वस्थ हैं ॥ १ ॥

कुशील—क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परिहीनः संघस्याविनयकारी कुशीलः ।

अर्थ—क्रोधादि कषाय कर मलिन है आत्मा जिनकी, और मूल गुण तथा उत्तर गुण और शील के समस्त भेदनि कर रहित तथा संघ का अविनय करने वाले ही कुशील हैं ।

संसक्त—वैद्यमंत्रज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः ।

अर्थ—वैद्य-विद्या, मंत्र-विद्या, ज्योतिष-विद्या, से जो जीविका करने वाले तथा राजादिकों की सेवा करते हैं सो संसक्त हैं ।

अवसन्न—जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानाचरणभ्रष्टः करणालसोऽवसन्नः ।

अर्थ—जिन वचन को नहीं जानने वाला, छोड़ दिया है चारित्र जिसने, और ज्ञानाचरण से भ्रष्ट अनादि शुभोपयोग के करने में आलसी है, वह अवसन्न जानो ।

मृगचारी—त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छंदविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्रः स्वछंद इति वा ।

अर्थ—त्याग दिया है गुरु कुल जिसने और एकाकीपणाकर स्वछंद विहार करने वाला, जिन वचन की निन्दा करने वाला, सो स्वछंद है ॥ ५ ॥

स्वाध्याय

"चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः ।
अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः ॥ ५६६ ॥ [संस्कृत भावसंग्रह पृ० २१०]

अर्थ—भगवान् तीर्थंकर अरहन्त के द्वारा कहे गये ४ अनुयोगों—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के शास्त्रों को यथार्थ रूप से पढ़ना और पढ़ाने का नाम स्वाध्याय है । इसे प्राकृत में सज्झाय कहते हैं—

"शोभनोऽध्यायः स्वाध्यायः सुष्ठु आमर्यादया—कालपारुष्यादिवचनदोषपरिहारेण अध्ययनमध्यापनं स्वाध्यायः।

अर्थ—काल शुद्धि पूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करने या कराने का नाम स्वाध्याय है।

"अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत्" । १ ।
अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्धः ॥ २ ॥
अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणां । ३ ।
किं नामान्धः पश्येत् ॥ ४ ॥ [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—जिस प्रकार विना प्रकाश के—अन्धेरे में जैसे नेत्रों द्वारा, धरे हुए पदार्थों का भी पूरा ज्ञान नहीं होता; उसी प्रकार बिना शास्त्रों के अनुभव पढ़े कुछ भी सत्य कर्तव्य का ज्ञान नहीं होता। १।

ज्ञान नेत्र का उद्घाटन शास्त्र-स्वाध्याय स ही होता है; विना शास्त्र ज्ञान के चक्षु होने पर भी मनुष्यों को नीतिकारों ने अन्धा बताया है।

जो पदार्थ चक्षुद्वारा प्रतीत नहीं होता उसे प्रकाश करने के लिये शास्त्र ही समर्थ है। यह शास्त्र ज्ञान मनुष्यों का तीसरा नेत्र है। क्योंकि शास्त्र ज्ञान के विना अन्धे पुरुष को क्या प्रतीत हो सकता है।

"नह्यज्ञानादन्यः पशुरस्ति" [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—शास्त्र ज्ञान रहित मूर्ख मनुष्य को छोड़ कर उपचार से कोई और पशु नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार पशु घास वगैरह खाकर केवल मल मूत्रादि क्षेपण करता है, किन्तु उसे धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी बिना शास्त्र ज्ञान के अभक्ष्य भक्षण कर मल मूत्रादि क्षेपण कर काल व्यतीत करता है, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य को नहीं समझता।

कहा भी है—

"आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।

तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥" [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—जो सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान का कहा हुआ हो, इसी कारण जो वादि प्रति वादियों द्वारा खण्डन न किया जा सके तथा जिसमें कहे हुए सिद्धान्तों में प्रत्यक्ष तथा अनुमान से विरोध न आवे, तथा जीवादि साततत्त्वों का जिसमें निरूपण हो, सर्व कल्याण का करने वाला हो तथा मिथ्या मार्ग का खण्डन करने वाला हो, वही सच्चा शास्त्र है।

और भी कहा है—

"पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसादिनाशनं।
प्रमाणद्वयसंवादिशास्त्रं सर्वज्ञभाषितम् ॥ ९८ ॥" [उत्तर पुराण]

अर्थ—जो पूर्वापर विरोध रहित हो अर्थात् निर्दोष हो हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों को नाश करने वाला हो तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से विरोध रहित हो एवं सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा कहा गया हो। वही सच्चा शास्त्र है। उसके १ प्रथमानुयोग २ करणानुयोग ३ चरणानुयोग और ४ द्रव्यानुयोग चार भेद है।

प्रथमानुयोग का लक्षण

"प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यं।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥ २ ॥" [रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ. २]

अर्थ—जसमें परमार्थ विषय का कथन हो, पुण्य को उत्पन्न करने वाला हो, अप्राप्त सम्यग्दर्शनादि को, तथा धर्म्य और शुक्ल ध्यान को उत्पन्न करने वाला हो, ऐसे चरित्र रूप शास्त्र (जिसमें किसी एक पूज्य पुरुष का चरित्र चित्रण किया गया हो), तथा पुराण रूप शास्त्र (जिसमें ६३ शलाका के पूज्य पुरुषों की कथा हो) ऐसे प्रथमानुयोग शास्त्र को सम्यग्ज्ञान जानता है।

करणानुयोग का लक्षण।

"लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनाञ्च।

आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगश्च ॥ ३ ॥" [रत्नकरण्डश्रावकाचार अ० २]

अर्थ—सम्यग्ज्ञान लोकाकाश (ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक) और अलोकाकाश के विभाग को तथा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूपकाल के परिवर्तन (पलटने) को, नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव गति के स्वरूप को, दर्पण के समान स्पष्ट जानता है। अर्थात् जैसे दर्पण, मुख आदि के स्वरूप को यथार्थ प्रकाशित करता है उसी प्रकार करणानुयोग शास्त्र भी उक्त विषयों को स्पष्ट करता है।

चरणानुयोग का स्वरूप।

"गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४ ॥" [रत्नक० श्रा० अ० २]

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति और वृद्धि तथा रक्षा को निरूपण करने वाले चरणानुयोग को जानता है। इसके अनुकूल प्रवृत्ति करने से जीवन सदाचारी हो जाता है।

द्रव्यानुयोग का लक्षण

"जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ५ ॥" [रत्न क० श्र० २]

अर्थ—द्रव्यानुयोगरूपी दीपक, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य पाप के स्वरूप को प्रकाशित करता है।

स्वाध्याय सम्बन्धी समय का विचार

अब स्वाध्याय के लिये कौनसा समय उपयुक्त है तथा कौनसा अनुपयुक्त है, इस पर विचार किया जाता है।

प्रश्नः—शास्त्रों में लिखा है कि शास्त्रों का अध्ययन समय पर करो, अन्यथा पाप बन्ध होता है। यह कहां तक समुचित है?

उत्तरः— जैनशास्त्र पढने से, एवं शास्त्र स्वाध्याय करने से कदापि पाप बन्ध नहीं होता, जिस प्रकार दीपक से प्रकाश होता है और अन्धकार नष्ट होता है, उसी प्रकार जितने समय शास्त्र का स्वाध्याय किया जाता है, उससे आत्म–ज्ञान का प्रकाश होता है, और पाप रूपी अन्धकार का विनाश होता है।

यदि स्वाध्याय से पापबंध हो, तो फिर पाप कर्म की निर्जरा का ही मार्ग क्या होगा ? और कर्मों की निर्जरा के अभाव में कोई जीव मुक्त ही नहीं हो सकेगा। इस का विशेष निवेचन इस प्रकार जानना चाहिए—

"एत्तो (सुत्तादो) अण्णो गंथोकप्पदि पठितुं असज्झाये"

व्याख्या—"असज्झाये अस्वाध्यायेऽन्यत् पुनः सूत्रं कालशुद्ध्याद्यभावेऽपि" [वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत मूलाचार टीका]

अर्थ—दिग्दाहादि अकाल एवं जनन मरण अशौच (सूतक) सामायिकादि काल जिसमे स्वाध्याय न किया जा सके।

"असज्झाय–असज्झाइय- (अस्वाध्याय-अस्वाध्यायिक) पुं० नं० आमर्यादया सिद्धान्तोक्तन्यायेन पठनमध्यायः सुष्ठु शोभनमध्यायः स्वाध्यायः स एव स्वाध्यायिकं नास्ति स्वाध्यायो यत्र तदस्वाध्यायिकमस्वाध्यायो वा रुधिरादौ स्वाध्याय–करणहेतौ । [प्रवचन सारोद्धार। ७३८ द्वा]

"न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकं कारणे कार्योपचारात् रुधिरादौ" [धर्म सग्रह ३ अध्याय]

"असज्झाइयं दुविहं आदसमुत्थं परसमुत्थं च जम्मि जम्मिकारणे सज्झाओ ण कीरई तं सव्व असज्झायं।

[अभिधान राजेन्द्र अवर्ग १ खंड]

अर्थ—जिस काल मेवा जिन रुधिरादि निष्कासन आदि कारणों से शास्त्रों का मर्यादा पूर्वक पठन पाठन न किया जा सके उन समस्त कारणों को अस्वाध्याय या अस्वाध्यायिक कहते हैं। यहाँ पर सर्वत्र नहीं पढ़ने रूप अस्वाध्याय कार्य का उस पठन पाठन को रोकने वाले कारणों में, आरोपण लगाना रूप उपचार कर दिया गया है। अर्थात् वास्तव में अस्वाध्याय नहीं पढ़ने को कहते हैं। दिग्दाहादि अकाल रुधिरादि अद्रव्य, सूतकादि अद्रव्य, उस नहीं पढ़ने में कारण है। उनको वहा व्यवहार उपचार से अस्वाध्याय कह दिया है।

"अस्वाध्यायः (पुं०) न स्वाध्यायः वेदाध्ययनं यस्य अथवा न स्वाध्यायः वेदाध्ययनं यस्मिन् काले अष्टम्यादौ"
[शब्द चिन्तामणि कोष पृ० १२७]

अर्थ—जिन अष्टमी आदि तिथियों में एवं सूतकादि दिनों में वेदाध्ययन रूप स्वाध्याय वर्जित है, उन्हें अस्वाध्याय या स्वाध्याय का अकाल कहते हैं।

"असज्झाय (अस्वाध्या पुं०) पठन पाठन का प्रतिबन्धक कारण। [पाई सद्दमहण्णवो पृ० ११३]

"अस्वाध्याय (पुं०) निराकृति, वेदाभ्यास रहित अपनी शाखा के अनुसार जिसने वेदाध्ययन किया हो वह।
[युगल कोष पृ० ४०]

अस्वाध्याय (त्रि० लि०) न स्वाध्यायो वेदाध्ययनं यस्य। वेदाध्ययनहीने "अस्वाध्यायं वषट् कारणम्" इति स्मृतिः। न स्वाध्यायो यस्मिन्। अध्ययनं निषिद्धे काले अष्टम्यादौ। अधीयते अधि-इङ्-घञ् अध्यायः स्वस्य स्ववर्णानुसारेण अध्यायः स्वाध्यायः "स्वाध्यायोऽध्येतस्य" इतिश्रुतिः। नञ्तत्पुरुषसमासः। स्वाध्यायभिन्ने। [शब्दस्तोम महानिधि पृ० ५२ कालम २]

अर्थ—वेदाध्ययन जिस काल में न किया जाय या अपने वर्णानुसार पढ़ना स्वाध्याय और तद्भिन्न-अस्वाध्याय।

इन समस्त उद्धरणों से यही निष्कर्ष निकला कि जिन २ कारणों से स्वाध्याय न किया जा सके उन्हें अस्वाध्याय या असज्झाय कहते हैं। वह असज्झाय २ दो प्रकार का है। एक आत्म समुत्थ दूसरा पर समुत्थ। पर समुत्थ दिग्दाहादि काल कृत अशुद्धि को कहते हैं। यथा—

"दिसदाह उक्कपडणं विज्जुचडुक्कासणिंदधणुगं च।
दुग्गंध सज्झ दुद्दिणं चंदग्गह सूरराहुजुज्झं च॥ ७७॥
कलहादिधूमकेदुधरणीकंपं च अब्भगज्जं च।
इच्चेव माइ बहुया सज्झाये वज्जिदा दोसा॥ ७८॥ [मूलाचार संस्कृत टीका पूर्वार्ध पृ०२३०]

अर्थ—दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्र धनुष, सूर्य ग्रहण, तूफान, भूकम्पादि उत्पात, भयङ्कर दुर्गन्ध, बिजली का चमकना, मेघों का गर्जना, ओले वगैरह का पड़ना, संध्या या बादलों का लाल पीला होना, दुर्दिनः, आकाश का बादलों से घिरना, चन्द्र-युद्ध, ग्रह-युद्ध, सूर्य-युद्ध, राहु-युद्ध, एवं निघोतादि का होना, कलह क्रोधावेश में आपस में महा उपद्रवरूप गाली-गलौज का निकालना, तलवार लाठी वगैरह से आपस में मार काट करना धूमकेतु धूमाकार रेखा का दिखना, अग्निदाहादि दोष स्वाध्याय काल में वर्जित हैं। अर्थात् इन कारणों के उपस्थित होने पर स्वाध्याय छोड़ देवे। इसे काल शुद्धि कहते हैं।

अपने शरीरादिक में खून वगैरह निकलने लगजाय या सूतकादि हो जाय, अपने परिणामों में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि, पैदा हो जाय, तो भी स्वाध्याय छोड़ देवे। इसे आत्म-समुत्थ अस्वाध्याय कहते हैं। इसी को द्रव्य क्षेत्र भाव शुद्धि भी कहते हैं। यथा—

"कालशुद्धिं विधाय द्रव्यक्षेत्रभावशुद्धयर्थमाह—

"रुहिरादिपूयमंसं दव्वेखेत्ते सदहत्थपरिमाणं।
कोधादिसंकिलेसा भावविसोही पठनकाले ॥ ७६ ॥ [मूलाचार पंचाचाराधिकार]

अर्थ—अपने या पर के शरीर से खून, पीब, मल मूत्रादि निकल रहा हो, मक्खियां भिनभिनाट करती हों तो स्वाध्याय नहीं करे। जहां स्वाध्याय होता हो उस स्थान के चारों तरफ १०० हाथ तक कोई अशुचि द्रव्य एवं मुर्दा वगैरह नहीं होना चाहिये। कदाचित् होवे तो यदि दूर किया जावे तो वहां स्वाध्याय करे अथवा उस स्थान को छोड़ देवे। भोजनादि भी गरिष्ठ नहीं खाना चाहिये। डकार आदि जंभाई, अंग शरीर मरोड़ना आदि तथा कषायें ईर्ष्या, परनिन्दा, आत्म प्रशंसा भी स्वाध्याय काल में छोड़े। इन काल शुद्धयादि के द्वारा यदि सूत्रों अङ्ग उपाङ्गों का पठन पाठन किया जावेगा; तो कर्मों का नाश होकर मुक्ति प्राप्त होगी, अन्यथा कर्म बन्ध होगा।

[भाषा मूलाचार, आचारवृत्ति पृ० २३२ पूर्वार्ध]

इन सब छोड़ने योग्य दोषों का ही नाम असज्झाय या अस्वाध्याय है।

स्वाध्याय का स्वरूप

अब स्वाध्याय क्या है, यह जानना भी आवश्यक है। स्वाध्याय शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार है—

"सुष्टु सम्यक्प्रकारेण अधीयत इति स्वाध्यायः"

अर्थ—भले प्रकार मन, वचन और काय की शुद्धता से योग्य क्षेत्र काल में यथावत् वर्णोच्चारण के आठों स्थानों से शब्द की शुद्धता पूर्वक एवं अर्थ के चिंतवन सहित जिनागम का अध्ययन करना, स्वाध्याय है। [विद्वज्जन बोधक पृ० ४६५]

नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत् कर्मनिर्मूलनोद्यतः।
स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाऽध्ययनं श्रुतेः ॥ ६२ ॥

टीका—हि यस्मात् भवति। कोऽसौ ? सः स्वाध्यायः। किं विशिष्टः ? हितः उपकारकः। कस्मै ? स्वस्मै आत्मने संवरनिर्जराहेतुकत्वात्। वा अथवा सु सम्यग् आकेवलज्ञानोत्पत्तेः श्रुतस्याध्ययनपाठः स्वाध्यायः इत्यन्वर्थाश्रयणात्। [मू० अनगार धर्मा० अ० ७ पृ० ५२१]

अर्थ—स्व—आत्मा के लिये हितकर-उपकारी, संवर और निर्जरा के कारण भूत श्रुत परमागम के अध्ययन को अथवा सु समीचीन केवल ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त, श्रुत के अध्ययन पाठ को स्वाध्याय कहते हैं। [पं० खूबचन्द्रजी कृत भाषाटीका पृ० ७१४]

"चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः।
अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः ॥ ५६६ ॥ [संस्कृत भावसंग्रह पृ० २१०]

अर्थ— जिनोक्त चारों अनुयोगों का यथार्थ रूप से पढ़ना और पढ़ाना है उसे स्वाध्याय कहते हैं। इसी को प्राकृत भाषा में सज्झाय कहते हैं।

सज्झाय—स्वाध्याय पुं० अध्ययनमध्यायः। शोभनोऽध्यायः स्वाध्यायः। सुष्ठु आमर्यादया कालवेलापरिहार्यादिवचनं दोषपरिहारेण अध्यायः अध्ययनमध्यापनं स्वाध्यायः। सुष्ठु आमर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः। साध्वसध्यशौंकः ६। २ २६ हैमव्याकरणेन—ध्यस्य प्राकृते झः। सज्झायशब्दस्य अणुव्रतविद्यादिस्मरणे, नमस्कारापवर्तने अधीतगुणने प्रयोगः। यत्तु खलु वाचनोपदेशसेवनमत्र भवति। धर्मकथान्ते क्रमशस्तत् स्वाध्यायः। इस प्रकार स्वाध्याय एवं सज्झाय शब्द की व्युत्पत्ति पूर्वक निरुक्ति हुई।

इसका प्रयोग अणुव्रत एवं विद्याओं के स्मरण में, नमस्कार रूप प्रवृत्ति रूप में पढ़े हुए को गुणने में हुआ करता है। इसलिये शास्त्रकारों ने शास्त्र स्वाध्याय करने का मार्ग निर्दिष्ट किया है। क्योंकि शास्त्र ज्ञान के बिना ज्ञान नेत्र का उद्घाटन नहीं होता।

स्वाध्याय की महत्ता

विनेयवद्विनेतृणामपि स्वाध्यायशालया ॥ [अनगारधर्मा० पृ० ५२१]

"विना विमर्शशून्यधीर्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि" [सागारधर्मामृत पृ० ४४]

अर्थ—स्वाध्याय करने से यथावद् वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है। मानसिक व्यापार अशुभ प्रवृत्ति से हटकर शुभ प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट होता है। अर्थात् मन वश में हो जाता है। आत्मा में से रागद्वेष दूर होकर आत्मा विशुद्ध होजाता है। स्वाध्याय के करने से राग क्रोध, मान, माया, लोभादिक पापों से आत्मा पराङ्मुख होता है। कल्याण—मोक्ष के मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में प्रवृत्त होता है। स्वाध्याय से ही मैत्री बढ़ती है।

"जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ताविसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥ ७० ॥
जेण रागाविरज्जेज्ज जेण सेएसुरज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज तं णाणंजिणसासणे ॥ ७१ ॥ [मूलाचार पंचाचाराधिकार]

भावार्थ—स्वाध्याय करने से तर्क शक्ति, बुद्धि की प्रकर्षता, परमागम की स्थिति, इन्द्रियादिक दमन, कषायों पर विजय, उत्तमतप की वृद्धि, संवेग, धर्म, धर्मकेफल में अनुराग, वस्तु का यथार्थज्ञान एवं निर्णय, दर्शन की शुद्धि, व्रतादि में अतिचारों का अभाव, परवादियों के पराभव का कौशल और जैन धर्म की प्रभावना करने की शक्ति आदि, सद्गुणों का विकाश होता है। यथा—

"प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थं स्वाध्यायः" [श्लो० वा० पृ० ४८७]

प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः प्रवचनस्थितिः, संशयोच्छेदः परवादिशङ्काभावः। परमसंवेगः तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः स्वाध्यायोऽनुष्ठेयः। [राजवार्तिक भाष्य पृ० ३५७]

स्वाध्याय का समय

स्वाध्याय के नियत काल—गोसर्गकाल (दोपहर के दो घड़ी के पीछे, तथा संध्या के दो घड़ी पहिले) अथवा (सन्ध्या के दो

घड़ी पीछे और अर्द्ध रात्रि के दो घड़ी पहिले) विरात्रिकाल (अर्द्ध रात्रि के दो घड़ी पीछे और प्रातः काल के दो घड़ी पहिले) ये तीन हैं। यथा कहा भी है—

"पादोसियवेरत्तिय गोसग्गियकालमेवगेण्हित्ता।
उभयेकालम्हि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो ॥ ७३ ॥ [मूलाचार पंचाचाराधिकार]

स्वाध्याय के भेद और उन का स्वरूप

वह स्वाध्याय पांच प्रकार का है।

"परियट्टणाय वायणा पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाओ ॥ १९६ ॥ [मूला० पंचाचाराधिकार]

"से किं तं सज्झाए ? सज्झाये पंचविहे पण्णत्ते तं जहा वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा धम्मकहा सेतं सज्झाये।
[सूत्र ६०२ भगवती शतक ७३]

"वाचना पृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥ [मोक्ष शास्त्र अ० ९]

"वाचना पृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पंचधा जिनैः ॥ १६ ॥ [तत्वार्थसार अध्याय ६ पृ० ३६३]

अर्थ—वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्म देशना और अनुप्रेक्षा, ये पांच प्रकार के स्वाध्याय माने गये हैं। स्वाध्याय का अर्थ विद्याभ्यास करना है। पढ़ना, पढ़ाना, शुद्ध पाठ उच्चारण करना धर्म सम्बन्धी उपदेश करना, अथवा तत्त्वों का चिन्तवन करना, ये सब बातें विद्याभ्यास में ही गर्भित हैं।

"निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना ॥ १ ॥ [राजवार्तिक पृ० ३४७]

अर्थ—निर्ग्रन्थ ग्रन्थ, अर्थ एवं उभय पात्र को देना वाचना है।

"पृच्छनं संशयोच्छित्यै निश्चीति दृढ़नाय वा।
प्रश्नोऽधीति प्रवृत्यर्थत्वादध्यैविरसावपि ॥ ६४ ॥"

[तत्त्वार्थसार अ० ७]

अर्थ—जो वाचना द्वारा अध्ययन किया है उस अर्थ में अथवा दोनों के विषय में यह इसी तरह से है या दूसरी तरह से है ऐसा संशय होने पर उसको दूर करने के लिये अथवा निश्चित मालूम होने पर भी कि यह इस तरह से है या 'ऐसा' नहीं है, अपने निश्चय को दृढ़ बनाने के लिये विशेष विद्वान् से उस विषय में प्रश्न करना पृच्छना है।

यहां पर यह शंका होती है कि प्रश्न करना अध्ययन नहीं कहा जा सकता, अतः मूल लक्षण से व्याप्ति दोष आता है। किन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि प्रश्न करना अध्ययन में प्रवृत्ति होने का कारण है। अतएव उसको भी स्वाध्याय कहते हैं।

[अनगार धर्मामृत पृ० ७१५]

"इसे पढ़ना भी कह सकते हैं।"

[भाषाटीका तत्वार्थ सार पृ० ३६३]

पृच्छना शास्त्र श्रवणम्"

[मूलाचार वृत्ति पृ० ३०६ पूर्वार्ध]

इस का मतलब यह है कि स्वतः शास्त्र पढ़ना या दूसरे से शास्त्र सुनना, तथा प्रश्न करना तीनों पृच्छना स्वाध्याय है।

"अनु ेक्षा द्वादशानुप्रेक्षाऽनित्यत्वादेश्चिन्तनं। परिवर्तनं पठितस्य ग्रन्थस्यानुवेदनं। धर्मकथा धर्मोपदेश सत्स्तुति मङ्गला।

[आचार वृत्ति पृ० ३०६]

बारह भावना भाना, अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। पढ़ा हुआ पाठ शुद्ध उच्चारण पूर्वक पढ़ना उसे आम्नाय कहते हैं। "पाठ करना" इस शब्द का यही अर्थ है। पूर्व पुरुषों के चरित्र अथवा विषयों का स्वरूप बतलाना, सो धर्म कथा या धर्मोपदेश कहलाता है। अथवा त्रेसठ शला के पुरुषों का चरित्र कहना, धर्म कथा है। इस प्रकार पांचों प्रकार का स्वाध्याय विधि पूर्वक करना चाहिये। इससे कर्म क्षय एवं वैराग्य वृद्धि होती है। यथा—

"पढ़माई सव्वंगोपं वेग्ग विसंनभवं कुणई विदिंगा

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदिय संवुडो ति गुत्तोय ।
हवदि य एग्गमणो विणएण समाहि ओभिक्खू ॥ २१३ ॥ [मूलाचार पूर्वार्ध पृ० ३२१]

शंका—यह जाना कि सज्झाय और असज्झाय क्या है ? परन्तु यह नहीं मालुम हुआ, कि असज्झाये सज्झाय का क्या मतलब है ?

समाधान—उपर्युक्त स्वाध्याय के विघ्न के कारण अस्वाध्याय, कालशुद्धयादि का अभाव बतलाया है, उसमें स्वाध्याय करना सो असज्झाये सज्झाय है ।

शंका—यदि ऐसा है तो स्वाध्याय का नियत समय क्यों बतलाया ?

समाधान—यह सूत्रों— अङ्ग पूर्वादि श्रुतों के वास्ते बतलाया एवं विग्दाहादि में उन्हीं का पाठ मना है ।

शङ्का—इसमें प्रमाण क्या है ?

अस्वाध्याय काल में किन का स्वाध्याय वर्जित है ?

समाधान—निम्न प्रकार प्रमाणों से यह बात सिद्ध करते हैं—काल शुद्धयां यद्यत् सूत्रं पठ्यते तत्तत्केनोक्तमत आह:—

"सुत्तं गणधरकहिदं तहेवपत्तेयबुद्धिकथिदं च ।
सुदकेवलिणाकथिदं, अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ॥ ८० ॥
तं पठिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थि वग्गस्स ।
एतो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाये ॥ ८१ ॥ [मूलाचार पूर्वार्ध पृ० २३२–२३३]
सूत्रं गणधराद्युक्तं श्रुतः तद्वचनादयः ।
स्वाध्यायः सकृतः काले मुक्त्यै द्रव्यादिशुद्धितः ॥ ४ ॥ [अनगार धर्मामृत ६ अ. पृ. ६२६]

अर्थ—गणधर, प्रत्येक बुद्ध, श्रुत केवली और दश पूर्व धर द्वारा कहा गया ग्रन्थों का समूह सूत्र कहलाता है। अङ्ग, पूर्व, वस्तु प्राभृत, एवं प्राभृत प्राभृत ये सब अङ्ग और उपाङ्ग गणधरादि रचित सूत्र हैं। इन सूत्रों का पाठ स्वाध्याय के नियत काल में करना चाहिये। दिग्दाहादि काल में इन का पाठ उचित नहीं। इन सूत्रों के सिवाय अन्य ग्रन्थों का स्वाध्याय अकाल में किया जा सकता है।

किं तदन्यत् सूत्रमित्याह—

"आराहणाणिज्जुत्ति मरणविभत्तिय संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहा ओयएरिम ओ ॥ ८२ ॥ [मूलाचार पूर्वार्धे पृ० २३३]

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप का उद्योतन, उद्यवन, निर्वाहन, साधन आदि की निर्युक्ति अर्थात् व्याख्यान करने वाला, शास्त्र जैसे भगवती आराधना,। मरण विभक्ति-१७ तरह के मरण को बतलाने वाला ग्रन्थ,। संग्रह ग्रन्थ—पंच संग्रह आदि।

स्तुति—पंच परमेष्ठी की स्तुति देवागम स्वयंभूस्तोत्र, भक्तामर, कल्याण मन्दिर आदि।

प्रत्याख्यान—त्यागव्रतादि बतलाने वाले ग्रन्थ—क्रियाकोषादि चरणानुयोग के ग्रन्थ। आवश्यक सामायिक चतुर्विंशति स्तवन वंदनादि के स्वरूप प्रतिपादक ग्रन्थ समूह। धर्म कथा त्रेसठशलाका पुरुषों के चरित्र, जैसे पद्म पुराण आदि। स्वामि कार्ति केयानुप्रेक्षा आदि अनुप्रेक्षा ग्रन्थ तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ काल शुद्धयादिक के अभाव में अर्थात् अकाल में पढ़े जा सकते हैं।

शङ्का—यह नियम तो मुनि तथा आर्यिका के वास्ते बतलाया गया है।

समाधान—लाटी संहिता, सागरधर्मामृत, वसुनन्दिश्रावकचार, यशस्तिलक चम्पू आदि श्रावक धर्म के वर्णन करने वाले ग्रन्थों में श्रावकों तथा मुनियों को पञ्चाचार यथा शक्ति पालन का उपदेश है। यह ज्ञानाचार का विषय है। अतः एव दोनों के समान नियम रहे तो इसमें हानि क्या है ?

शङ्का—हानि तो नहीं ? परन्तु मुनियों का ग्रन्थ होने से लोग कहने लगते हैं कि मुनियों के ग्रन्थ में श्रावकों का क्या काम ?

समाधान—भाई कुछ ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें श्रावक तथा मुनि समान रूप से करने के अधिकारी हैं। उनको मुनियों के आचार ग्रन्थ में उनका प्रधान कर्तव्य समझ विस्तार से वर्णन किया है। परन्तु श्रावक अभ्यास रूप से उन्हें करता है। अतः एव श्रावकों के धर्म प्ररूपक श्रावकाचारों में गौण करके समान रूप में कर्तव्य मात्र बतला दिया है।

मुनि और श्रावक के समान कर्त्तव्य

शङ्का—ऐसे कौन ? कर्तव्य हैं। जिन्हें मुनि और श्रावक समान रूप से कर सकते हैं।

समाधान—तप, प [illegible]ार, षडावश्यक आदि नित्य नैमित्तिक क्रियायें जिनका मुनियों के ग्रन्थों में ही विस्तृत वर्णन है श्रावकचार में नहीं। परन्तु हैं दोनों के समान रूपेण पालनीय। इतना अवश्य है कि मुनि गृहीत्यागी होने से यदि उस क्रिया को निरन्तर के अभ्यास से जितनी सफलता के साथ कर सकता है, उतनी सफलता से नवीन अभ्यासी होने से श्रावक न कर सके। परन्तु श्रावकको करने का अधिकार ही न हो, यह बात नहीं।

शङ्का—ऊपर्युक्त स्वाध्याय के नियमों का पालन, दोनों श्रावक और मुनि के लए है, ऐसा किस ग्रन्थ में लेख है ?

समाधान—अनगार धर्मामृत के ६ वें अध्याय में नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन है। उसमें नत्य क्रिया में स्वाध्याय को पहिले लिया है। और उसमें मूलाचार की उपरोक्त गाथाओं में लिखा है कि—"दिग्दाहादि अ गउपांगों को छोड़ अन्य ग्रन्थों का अध्ययन करे। वे आराधनादि हैं। और यह नित्य नैमित्तिक कार्य मुनि एवं उत्तम श्रावक, मध्यम श्रावक तथा जघन्य श्रावक सभी के हैं। सो यथाशक्तिपालन करना चाहिये।

"नित्या नैमित्तिकोश्चे त्यवितथकृतिकर्माऽङ्गबाह्यश्रुतोक्ताः।
भक्त्या युङ्क्ते क्रियायो यतिरथपरमः श्रावकोऽन्योऽथ शक्त्या॥
स श्रेयः पविभ्रमाग्रत्रिदशनरसुखः साधुयोगोज्झिताङ्गो।
भव्यः प्रक्षीणकर्मा व्रजति कतियर्यैर्जन्मभिः जन्मपारम्॥ ६६॥ [अनगारधर्म]

अर्थ—पूर्वोक्तरीति से इस अध्याय में जिन नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है ये सब सत्यभूत कृति कर्मनाम के अंग बाह्य श्रुत मे अच्छी तरह बतलाई हैं। उसी के आधार से यहां बतलाई गई हैं। अतः एव सर्वथा प्रमाणभूत है। जो संयमी साधु अथवा उत्तम श्रावक दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा धारण तथा मध्यम और जघन्य श्रावक भक्ति पूर्वक शक्ति प्रमाण कर सकता है पश्चात् आयुके अन्त में उत्तम भोगदि भोग, ज्यादा से ज्यादा सात आठ भव में मोक्ष को प्राप्त होता है।

शङ्का—इस स्पष्टरीति से समझाइये ?

समाधान—सिद्धान्त ग्रन्थों में चतुर्थ तथा पंचम गुणस्थानवर्ती को द्वादशाङ्ग का पाठी बतलाया है।

शङ्का—इसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—लौकान्तिक देव, सर्वार्थ सिद्धि तथा अनुदिश अनुत्तर वासी समस्त अहमिन्द्र सम्यग्दृष्टी तथा द्वादशाङ्ग के पाठी होते हैं।

शङ्का—कहां लिखा है ?

समाधान—राजवार्तिक पृष्ठ १७४ पर लौकान्तिक देवों का स्वरूप इस प्रकार लिखा है।

"सर्वे ते स्वतन्त्राः हीनाधिकत्वाभावात् विषयरतिविरहाद्देवर्षयः ततः इतरेषां देवानामर्चनीयाः चतुर्दशपूर्वधराः"

यहां उन्हें द्वादशाङ्ग का पाठी कहा है।

श्रावक सूत्रों का पाठी हो सकता है

शङ्का—देवों को द्वादशाङ्ग का पाठी बतलाया है, मनुष्यों को तो नहीं बताया।

समाधान—तीर्थङ्कर भगवान मति, श्रुत और अवधिज्ञान के धारी जन्म से ही होते हैं। वे पूर्ण श्रुत धर होते हैं।

सागार धर्मामृत के पृष्ठ ३३ पर दीक्षान्वयक्रियाओं के वर्णन में अजैन से जैन बनाने की क्रिया बतलाई है। वहांपर—

"आङ्गं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः"

पद आया है। टीका में "उद्धारग्रन्थमुपश्रुत्यसूत्रमपि। किंविशिष्टं—(तत सूत्रान्विकम्) आङ्गम् आचारादिद्वादशाङ्गाश्रितं न केवलम्—आङ्ग पौर्वं च चतुर्दशपूर्वगतश्रुताश्रितम्। यहां स्पष्ट सूत्रों को भी पढ़े, उसे पुण्य यज्ञ तथा पूजाराध्यनाम की क्रिया कहते हैं।

कहा भी है—

"ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रियापुण्यानुबन्धिनी।
शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं स ब्रह्मचारिणः ॥ १ ॥ [आदि पुराण पर्व ३६]

यहां भी उस जैन बनने वाले को पूर्व विद्याओं का—पूर्वों का अर्थ सुनने की आज्ञा दी है अर्थात् उन्हें पढ़े। अवलम्ब ब्रह्मचारी तथा गूढ़ ब्रह्मचारी गुरुओं के निकट अंगादि को पढ़, पुनः कुटुम्बियों की आज्ञासे गृह प्रवेश करते हैं विवाहादि करते हैं वे उन्हें क्या भूल जाते हैं ? अथवा उनका पठन पाठन नहीं करते हैं ? इन सब प्रमाणों से यह भली भांति सिद्ध है, कि सूत्रों का पढ़ना श्रावक को मना नहीं है।

शङ्का—हमने यह माना, पर क्या ऐसे सूत्र जो गणधरादि रचित हों इस समय में मिलते हैं।

समाधान—नहीं हैं, क्योंकि जब द्वादशाङ्ग ज्ञान लोप होकर एक पूर्व में कुछ थोड़ी सी वस्तुओं का ज्ञान शेष रहा था, तब श्री धरसेनाचार्य ने भूतवली और पुष्पदन्त को पढ़ाया था। उन्होंने ग्रन्थ रचना की थी। वे गणधर, श्रुत केवली पूर्वधर, अथवा दश पूर्व के पाठी थे नहीं, अत एव उन की रचना, सूत्र, अङ्ग, पूर्व, वस्तु, प्राभृत एवं प्राभृत प्राभृत नहीं, किन्तु अङ्गवाह्यश्रुत है।

अङ्गवाह्य श्रुत क्या है

शङ्का—अङ्ग वाह्य श्रुत क्या है ?

समाधान—"आरातीयाचार्यरचित च कालिकोत्कालिकमङ्ग वाह्यम्" [अनगारधर्मामृत पृ० ११]

"श्रूयतेऽस्मेति श्रुतं प्रवचनम्—तत्कालिकोत्कालिकादिवचनजनितस्यानेकभेदरूपत्वात्" [श्लोकवार्तिक पृ० २३६]

"आरातीयाचार्यकृतांगार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गवाह्यं। १३।

"यद्गणधरशिष्यैः प्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्वलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिवद्धं संक्षिप्ताङ्गवचनविन्यासं तदंगवाह्यम्"

[राजवार्तिक पृ० ५४]

अर्थ—पंचमकाल के अल्प बुद्धि अल्पायु, तथा अल्प बलशाली प्राणियों के आग्रह के लिये अंग श्रुतका संक्षिप्तार्थ लेकर रचे गये ग्रन्थों को अङ्गवाह्य श्रुत कहते हैं। इस लक्षण में यह स्पष्ट है कि अङ्गवाह्य श्रुत प्राणिमात्र के कल्याण के लिये है। उस में श्रावक और मुनि दोनों आगये। उस के भी २ भेद हैं। (१) कालिक और (२) उत्कालिक। इसलिये इस काल में सूत्र की चर्चा छोड़कर केवल अङ्गवाह्य श्रुत पर ही विचार करना चाहिये ?

अङ्गबाह्य श्रुत के भेद

शङ्का—अङ्ग बाह्य कितने प्रकार का है ?

समाधान—दो प्रकार का है। कालिक और उत्कालिक। राजवार्तिक, श्लोक वार्तिक, अनगार धर्मामृतादिक में इस का वर्णन है।

"तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात् । १४ ।

तदङ्गबाह्यमनेकविधं-कालिकोत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात् । स्वाध्यायकाले नियतं कालिकम् । अनियतकालिकमुत्कालिकम् । तद्भेदाः उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः— [संस्कृतराजवार्तिक पृष्ठ ५४]

अर्थ—स्वाध्याय के समय में ही जिसका समय निश्चित है, उसी समय जो पढ़ा पढ़ाया जाता है, अन्य समय में पढ़ा पढ़ाया नहीं जाता वह कालिक अङ्ग बाह्य है। और जिसका कोई समय निश्चित नहीं, सदा दिग्दाहादि में पढ़ा पढ़ाया जा सकता है वह उत्कालिक है। और उसके भेद उत्तराध्ययन आदि अनेक हैं।

विशेष—(१) सामायिक (२) चतुर्विंशति स्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) वैनयिक (६) कृतिकर्म (७) दशवैकालिक (८) उत्तराध्ययन (९) कल्पव्यवहार (१०) कल्पाकल्प (११) महाकल्प (१२) पुण्डरीक (१३) महापुण्डरीक (१४) निषिद्धिका ये चौदह भेद अङ्गबाह्य के हैं उनको प्रकीर्णक भी कहते हैं। [भाषाटीका राज वार्तिक पृ० ३८२]

कालिक और उत्कालिक ग्रंथ

इससे सिद्ध हुआ कि श्रावकों के सर्वथा पठन करने योग्य अङ्ग बाह्यश्रुत भी कालिक और उत्कालिक दो भेद रूप है।

इनमें कुन्द कुन्दस्वामी के ८४ पाहुड, श्री धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थ एवं समयसार आदि कालिक हैं। इन के सिवाय पद्म पुराण आदि पुराण, उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण, प्रद्युम्न चरित्र आदि प्रथमानुयोग के, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, क्रिया कोष, विद्वज्जन बोधक, सामायिकादि द्योतक समस्त श्रावकाचार, पूजादि प्ररूपक ग्रन्थादि जब इच्छा हो तब भी पढ़े जा सकते हैं, ये उत्कालिक

श्रावक धर्म संग्रह के पृष्ठ ७२ पर भी इसी प्रकार लिखा है—

"दिग्दाहादि के समय सिद्धान्त ग्रन्थों का अङ्ग पूर्वों का पठन पाठ वर्जित है। स्तोत्रादि–तथा आराधना धर्म कथादि ग्रन्थों का पठन पाठन वर्जित नहीं है।

शङ्का—फिर ज्ञान का अङ्ग जो काल शुद्धि है, वह क्या है ?

समाधान—जो ग्रन्थ काल शुद्धि में पढ़ने पढ़ाने के हैं; ऐसे कालिक ग्रन्थों को दिग्दाहादि में न पढ़े पढ़ावें। तथा जो अकाल में पढ़े पढ़ाये जा सकते हैं उन्हें जब चाहें पढ़े पढ़ावें। इसी को कालशुद्धि, कालाचार या काल विनय नामा ज्ञान का अंग कहते हैं।

यदि सन्ध्या सचमुच स्वाध्याय के लिये अकाल ही होती तो सर्व जगद्धितैषी परम भट्टारक देवाधिदेव श्री तीर्थंकर प्रभु की वाणी उसी समय खास कर न खिरती। वाणी का खिरना, जिसे आप अकाल कहते हैं, उसी में होता है, इससे भी सिद्ध हुआ कि सन्ध्याकाल अकाल है ही नहीं।

भगवान की वाणी किस समय खिरती है

शङ्का—भगवान की वाणी संध्या को खिरती है यह कैसे ?

समाधान—

"पुव्वण्हे मज्झण्हे पच्छिमभाये रत्तीये।
छच्छघडिया णिग्गय दिव्वझुणी कहई सुत्तत्थे ॥ १ ॥ [अनगारधर्म पृ० ८]

अर्थ—पूर्वाह्न, मध्या और अपराह्न तथा रात्रि का मध्यकाल इसमें ३–६ घड़ी दिव्य ध्वनि भगवान की खिरती है उसमें सूत्रों का अर्थ विशद रूप से कहा जाता है।

शङ्का—पूर्वाह्न-मध्याह्न और अपराह्न क्या है ?

उत्तर—रात्रि के अन्त की तीन घड़ियां, और दिन के प्रारम्भ की तीन घड़ियां मिल कर ६ घड़ी का समय पूर्वाह्न है। दिन में तथा रात्रि में १२ बजे से पहले ३ घड़ी तथा बाद की ३ घड़ियां मिलकर ६ घड़ी मध्याह्न एवं मध्यरात्रि कहलाता है। तथा दिन के अंत की ३ और आरम्भ के रात्रि की ३ घड़ियां अपराह्न है। यही बात आगम में मिलती है।

"तिस्रोऽह्नोऽन्त्यानिशा" आदि

भगवान कुन्द-कुन्द वक्रग्रीव क्यों ?

शङ्का—हमने कहते सुना है, कि भगवान कुन्द कुन्द ने अकाल में स्वाध्याय किया, सो शासन देवी ने उनकी गर्दन टेढी करदी थी।

समाधान—यह बात इतिहास और शास्त्र से विरुद्ध है। यदि थोड़ा विवेक से विचार किया जावे तो यह बात निर्विवाद है कि स्वाध्याय आदि पुण्य क्रियाओं के अनुष्ठानों से कषायांश मन्द होकर परिणामों मे विशुद्धि होती है और उससे पुण्यास्रव होता है। भगवान् सूत्रकार उमास्वामी आचार्य ने "शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" द्वारा स्पष्ट किया है।

यदि किसी स्थल पर ऐसी घटना हुई भी हो तो यह समझना चाहिये कि अमुक् व्यक्ति के ऐसे तीव्र अशुभ कर्म का उदय था कि यदि वे यह शुभाचरण न करते तो यह समझना चाहिये, कि व्यक्ति को न जाने कितना कष्ट उठाना और पड़ता। धर्म के प्रभाव से इतने में ही बच गये, वह सब स्वाध्याय रूप तप का ही प्रभाव था।

श्री कुन्द कुन्द स्वामी ने अकाल में स्वाध्याय किया, अतएव वे वक्रग्रीव टेढी गर्दन वाले हो गये, यह बात कपोल कल्पित है। केवल किंवदन्तियों का इतिहास में कोई महत्व नहीं है। असल में कुन्दकुन्द का ही दूसरा नाम पद्मनंदी था। और वे कौण्ड कुण्ड वासी थे। पश्चात् नगरानुकूल उनका श्रुति मधुर कुन्द कुन्द पडगया। उल्लिखित दोनों नाम श्रवणबेलगोल के ऊपर (चन्द्र गिरि पर्वत की मल्लिषेण प्रशस्ति में खुदे शिला ले० नं० ६–१० में है। अन्य ग्रन्थों में भी ये दो नाम मिलते हैं। नन्दि संघ की पट्टावली में निम्नाङ्कित ५ नाम आये हैं।

१. कुन्दकुन्द २. वक्रग्रीव ३. एलाचार्य ४. गृध्रपिच्छ ५. पद्मनंदी।

परन्तु पट्टावल्लियों में परस्पर विरोध होने से पूर्ण सत्य नहीं मानते, क्योंकि एलाचार्य नाम के आचार्य बहुत बाद के भगवज्जिन सेना चार्य के गुरु वीर सेन स्वामी के गुरु थे। गृध्रपिच्छ यह नाम उमास्वामी का है। वक्रग्रीव नाम के आचार्य बहुत बाद हुए हैं। वे अत्यन्त प्रसिद्ध थे। परन्तु पट्टावलियों के लेखकों को उसका भेद ज्ञान न होने से तथा क्रम के अज्ञान से परस्पर संग्रह कर दिया है।

"वक्रग्रीचमहामुनेर्दशशतग्रीवोऽप्यहीन्द्रोयथा।

"जातं स्तोतुमलं वचोबलमसौ किं भग्नवाग्मिव्रजम् ॥
योऽसौ शासनदेवता बहुमतो ह्री वक्रवादिग्रहः ।
ग्रीवोऽस्मिन्नथशब्दवाच्यमवदन् मासान् समासेन षट् ॥ १ ॥"

अर्थ—महा मुनि वक्रग्रीव के बड़े २ वक्ताओं को हटादेने वाले वचन बल की स्तुति हजार ग्रीव वाला धरणेन्द्र भी नहीं कर सकता। शासन देवी ने उन्हें बहुत माना था। उन्होंने लगातार छह महीने तक "अथ" शब्द का अर्थ किया था। उस समय बड़े २ वादियों की गर्दने लज्जा के मारे वक्र (टेढी) होगई थी। अत एव वे वक्रग्रीव कहलाये।

अब यदि हम वक्रग्रीव नाम आचार्य प्रवर कुन्द कुन्द को ही मानले तो वे उक्त कारण से वक्रग्रीव कह लाये न कि अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से शासन देवी ने गर्दन टेडी करदी थी। यह कपोल काल्पित होने से अप्रमाणिक है।

ज्ञान प्रबोध में जो आचार्य के जीवन चरित्र में ऐसा विषय आया है वह कपोल कल्पित प्रतीत होता है।

अतः सन्ध्या आदि में अकाल समझ कर स्वाध्याय न करना आगम से विरुद्ध है। जो ऐसा करते हैं वे प्रति कूल मार्ग पर है। स्वाध्याय के न करने से ही जैन समाज मे अज्ञान की प्रचुरता हुई है।

तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त ग्रन्थों को छोड कर अन्य सब ग्रन्थ दिग्दाहादि में स्वाध्याय किये जा सकते हैं।

और अकाल स्वाध्याय कोई पाप नहीं है, केवल मुनियों के ही लिये अतीचार रूप हैं। गृहस्थों के लिये नहीं है।

बनजी ठोल्या ग्रन्थ माला से प्रकाशित "क्रिया कलाप" में प्रतिक्रमण पाठ में मुनियों के ही लिये अकाल सज्झाय विषयक "इच्छामि दुक्कडं" ऐसा पाठ है, श्रावकों के लिये नहीं है। वह नीचे लिखते हैं—

"अकाले सज्झायो कओ वा कारिदो वा कीरतोवा तस्य मिच्छा मे दुक्कडं"

अर्थ—यह प्रतिक्रमण मुनियों का है—मैने अकाल में स्वाध्याय किया हो, कराया हो या करने की अनुमोदना की हो उसके निमित्त यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

सं. प्र.

उ. कि ३.

इससे सिद्ध होता है कि श्रावकों को अकाल में (सन्ध्या कालादि में) स्वाध्याय का निषेध नहीं है।

विशेष—सन्ध्या कालीन स्वाध्याय चातुर्मास में दीपकादि जन्य त्रसराशि की विराधना के पाप से बचने के लिये किया जाता है अतः संध्याकाल में स्वाध्याय कर सकते हैं। शास्त्रज्ञान के बिना श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और श्रुतज्ञान के अभाव में आत्मा में केवल ज्ञान की पात्रता भी नहीं होती। अतः ऐहिक और पारलौकिक कल्याण चाहने वालों को शास्त्र स्वाध्याय सदा करके अपना ज्ञान बढाना चाहिये।

कहा भी है—

"श्रुतबोधप्रदीपेन शासन वर्ततेऽधुना" [प्रबोधसार]

अर्थ—शास्त्र ज्ञान रूपी दीपक से ही जैन धर्म स्थायी रहेगा।

शङ्का—हमने नीतिसार में निम्नस्थ पद्य पढ़ा है ?

"आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम् ।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धान्ताचारपुस्तकम् ॥ ६१ ॥ [नीतिसार पे० ६१]

तात्पर्य—आर्यिका, गृहस्थ और अल्प बुद्धि वाले शिष्यों के समक्ष सिद्धान्त एवं आचार शास्त्र नहीं पढना चाहिये सो इसका क्या उत्तर है ?

समाधान—सिद्धान्ताचार शास्त्र प्रायश्चितादि प्ररूपक है। अतः उनके लिये निषेध है अन्य ग्रन्थों के अध्ययन करने का निषेध नहीं है।

"ज्ञानहीने क्रिया पुंसि पर नारभते फलम् ।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥" [यशस्तिलक पृ० २७१]

अर्थ—अज्ञानी की क्रियाएं सत्कार्य वास्तविक फल को नहीं देती; जैसे अन्धे व्यक्तियों को वृक्ष की छाया ही मिलसकती है; परन्तु अंगूर, आम वगैरह फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शास्त्रपरीक्षा विचार

"देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रम ।
ततश्च तदनुष्ठान कुर्यात्तत्र मतिं ततः ॥१॥
येऽविचार्य पुनर्देवं रुचिं तद्वाचि कुर्वते ।
तेऽन्धास्तत्स्कन्धविन्यस्तहस्ताः वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥२॥
पित्रोः शुद्धौ यथाऽपत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते ।
तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥ ३ ॥ [यशस्तिलक ६ आ० पृ० २७८]

अर्थ—सब से पहले धर्म-प्रवर्तक एवं शास्त्र रचयिता देव को परीक्षा करे। यदि वह सर्वज्ञ, वीतराग, मोक्षमार्ग-प्रवर्तक हो तो तत्प्रणीत आगमानुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिये। १।

जो देव का विचार न करके उसके वचन पर विश्वास एवं रुचि (श्रद्धा) करके उसके कन्धे पर हाथ रख कर सद्गति को चाहते हैं वे अन्धे हैं। २।

जिस प्रकार माता और पिता की शुद्धि पर सन्तान की शुद्धि निर्भर है, उसी प्रकार आगम रचयिता की शुद्धि पर आगम शुद्धि निर्भर है। ३।

शास्त्र के भेद

स्वरूप रचनाशुद्धिभूषार्थश्च समासतः ।
प्रत्येकमागमस्यैतद् द्वैविध्य प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥ [यशस्तिलक० पृ० ४१०]

प्रत्येक शास्त्र—स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलंकार आदि से अनेक प्रकार का है और उल्लिखित स्वरूपादि भी दो २ प्रकार के हैं।

अब स्वरूपादि के भेद बतलाते हैं—

तत्र स्वरूप च द्विविधं— अक्षरमनक्षरञ्च ।

रचना द्विविधा—गद्यं पद्यं च ।

शुद्धिर्द्विविधा—प्रमादप्रयोगाविरहः, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च ।

भूषा द्विविधा—वागलङ्कारः अर्थालंकारश्च ।

अर्थो द्विविधः—चेतनोऽचेतनश्च । जातिर्व्यक्तिश्चेति वा ।

[यशस्तिलक पृ० ४१०]

अर्थ—स्वरूप दो प्रकार का होता है । (१) अक्षरात्मक (२) अनक्षरात्मक ।

रचना के दो प्रकार हैं—(१) गद्यात्मक (२] पद्यात्मक । भाषात्मक मोक्षशास्त्र, राजवार्तिकादि गद्यात्मक है । छन्दोबद्ध रचना पद्यात्मक कहलाती है । जैसे चन्द्रप्रभ चरित्र, धर्मशर्माभ्युदयादिक ।

जिसमें गद्य पद्य दोनों हों उसे चम्पू कहते हैं, जैसे जीवन्धर चम्पू, पुरुदेव चम्पू आदि ।

शुद्धि दो प्रकार की है—(१) शब्द के प्रयोग करने या लिखने में प्रमादरहित होकर अशुद्धि न करना प्रमाद-प्रयोग-विरह-शुद्धि है ।

(२) अर्थ और शब्दों में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि के अभावको अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहार शुद्धि कहते हैं ।

भूषा—अलंकार दो प्रकार के हैं—(१ शब्दालङ्कार—अनुप्रास-यमकादिक हैं ।

(२) अर्थालङ्कार—उपमा उत्प्रेक्षा रूपकादि हैं ।

अर्थ—चेतन-अचेतन भेद से अथवा जाति व्यक्ति भेद से दो प्रकार का है—

(१ चेतन—जिसमें जीवों की संख्या प्रकार आदि का निरूपण हो वह अचेतन है, जैसे गोम्मटसार जीवकाण्डादिक ।

(२) अचेतन—जिसमें अचेतन कर्म प्रकृति आदि का निरूपण हो वह अचेतन है, जैसे गोम्मटसार कर्मकाण्डादिक है।

अथवा जाति-व्यक्ति—(१) जाति जो जातिगत वस्तु को कहे उसे जाति कहते हैं।

(२) व्यक्ति—जो खास एक ही व्यक्ति के लिये कहा जावे उसे व्यक्तिगत अर्थ कहते हैं—

ज्ञान स्त्री एवं पुरुष दोनों के लिए आ श्यक है।

बिना ज्ञान के संसार में स्त्री तथा पुरुष लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति नहीं कर सकते। अत एव भगवान ऋषभ देव ने कर्म भूमि की आदि में जो अपनी संतान पुत्र पुत्री थे उनको अध्ययन कराया था। इसका आख्यान जिनसेनाचार्य की कृति आदि पुराण से लिखते हैं—

"अथैकादा सुख सीनो भगवान् हरिविष्टरे। मनोव्यापारयामास कलाविद्योपदेशने ॥ ७२ ॥
तावच्च पुत्रिके भर्तुः ब्राह्मीसुन्दर्यभीष्टवे। धृतमगलनैपथ्ये संप्राप्ते निकटं गुरोः ॥ ७३ ॥
मेधाविन्यौ विनीते च सुशीले चारुलक्षणे। रूपवत्यौ यशस्विन्यौ श्लाघ्ये मानवती जनैः ॥ ७५ ॥
अधिक्षोणि पदन्यासैर्हंसगतिविडम्बिभिः। रक्ताम्बुजोपहारस्य तन्वाते परितः श्रियम् ॥ ७६ ॥
किमिते दिव्यकन्ये स्तां किं नु कन्ये फणीशिनां। दिक्कन्ये किमुत स्यातां किं वा सौभाग्यदैवते ॥ ९० ॥
किमिमे श्री सरस्वत्यौ किंवा तदधिदैवते। किं स्यात्तदवतारोऽयमेवं रूपः प्रतीयते ॥ ९१ ॥
इति सप्रश्रयमुपाश्रित्य जगन्नाथं प्रणेमतुः।
प्रणते ते समुत्थाय दूरान्नमितमस्तके। प्रीत्या स्वमङ्कमारोप्य स्पृष्ट्वाऽऽघ्राय च मस्तके ॥ ९४ ॥
स प्रहासमुवाचैवमेतं मन्ये सुरैः समं। योऽद्योऽद्यामरोद्यानं नैवमेते गताः सुराः ॥ ९५ ॥
इत्याक्रीड्य क्षणं भूयोऽप्येवमाख्यद्विशांपतिः। युवां युवजरत्यौ स्थः शीलेन विनयेन च ॥ ९६ ॥

इदं वपुर्वयश्चेदमिदं शीलमनीदृशं । विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जन्मवामिदम् ॥ ९७ ॥
विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः । नारी च तद्वतीधत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥ ९८ ॥
विद्यायशस्करी पुंसां विद्याश्रेयस्करी मता । सम्यगाराधिता विद्या देवता कामदायिनी ॥ ९९ ॥
विद्या कामदुधाधेनुर्विद्या चिन्तामणिर्नृणां । त्रिवर्गफलितां सूते विद्या संपत् परंपरा ॥ १०० ॥
विद्या बंधुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकं । सहयायिधनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधिनी ॥ १०१ ॥
तद्विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवां । तत्संग्रहणकालोऽयं युवयोर्वर्ततेऽधुना ॥ १०२ ॥
इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके । अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ॥ १०३ ॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकां । उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चाकैरनुक्रमात् ॥ १०४ ॥
ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम् । सिद्धंनम इतिव्यक्तमंगलां सिद्धमातृकाम् ॥ १०५ ॥
अकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव । स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधाभेदमुपेयुषीम् ॥ १०६ ॥
अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु संगतां । संयोगाक्षरसंभूतिं नैकबीजाक्षरैश्चितां ॥ १०७ ॥
समवादीधरत् ब्राह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी । सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत् ॥ १०८ ॥
न विनावाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्रं कलापिवा । ततोवाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥ १०९ ॥
सुमेधसावसम्मोहादध्येषातां गुरोर्मुखात् । वाग्देव्याविव निःशेषं वाङ्मयं ग्रन्थतोऽर्थतः ॥ ११० ॥
पदविद्यामधिछन्दो विचितिं वागलंकृतिं । त्रयीं समुदितामेतां तद्विदोवाङ्मयं विदुः ॥ १११ ॥
तदा स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभून्महत् । यत्तत्परः शताध्यायैरतिगम्भीरमब्धिवत् ॥ ११२ ॥
छन्दो विचितिमप्येवं नानाध्यायैरुपादिशत् । उक्तात्युक्तादिभेदांश्च षड्विंशतिमदीदृशत् ॥ ११३ ॥

प्रस्तारं नष्टमुद्दिष्टमेकद्वित्रिलघुक्रियां । संख्यामथाध्वयोगं च व्याजहार गिरांपतिः ॥ ११४ ॥
उपमानादीनलङ्कारांस्तन्मार्गद्वयविस्तरं । दशप्राणानलंकारसंग्रहे विभुरभ्यधात् ॥ ११५ ॥
अथैनयोः पदज्ञानदीपिकाभिः प्रकाशिताः । कला विद्याश्च निःशेषाः स्वयं परिणतिं ययुः ॥ ११६ ॥
इति ह्यधीतनिःशेषविद्ये ते गुर्वनुग्रहात् । वाग्देवतावताराय कन्ये पात्रत्वमीयतुः ॥ ११७ ॥
पुत्राणां च यथाम्नायं विनयादानपूर्वकं । शास्त्राणि व्याजहारैवमानुपूर्व्या जगद्गुरुः ॥ ११८ ॥
भरतायार्थशास्त्रं च भरतं च ससंग्रहम् । अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥ ११९ ॥
विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यार्थसंग्रहं । गन्धर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परः शतं ॥ १२० ॥
अनन्तविजयायाख्यद्विद्यां चित्रकलाश्रितां । नानाध्यायशताकीर्णां साकलाः सकलाः कला ॥ १२१ ॥
विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत् । अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारितः ॥ १२२ ॥
कामनीतिमथस्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणम् । आयुर्वेदं धनुर्वेदं तन्त्रं चाश्वेभगोचरम् ॥ १२३ ॥
तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्याख्यसूनवे । व्याचख्यौ बहुधाम्नातैरध्यायैरतिविस्तृतैः ॥ १२४ ॥
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत् । तत्सर्वमादिकर्ताऽसौ स्वाः समन्वशिषत् प्रजाः ॥ १२५ ॥
समुद्दीपितविद्यस्य काप्यासीदुद्दीप्तता विभोः । स्वभावभास्वरस्येव भास्वतः शरदागमे ॥ १२६ ॥
सुतैरधीतानिःशेषविद्यै रेद्यु तदीशिता । किरणैरिवतिग्मांशुरासादितशरद्युतिः ॥ १२७ ॥ [आदिपुराणपर्व १६]

तात्पर्य

एक दिन भगवान् ऋषभदेव सुख से सिंहासन पर बैठे हुए थे । सहसा उनका हृदय कलाओं और विद्याओं के उपदेश प्रदान के लिये उत्सुक हो उठा । इतने में दैवयोग से उनकी ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियां मंगल आभूषण पहने हुए उनके समीप आगईं । उन्होंने उस

समय किशोर अवस्था में प्रवेश ही किया था। वे दोनों बुद्धिमती एवं विनयशालिनी थी। शरीर के बाह्य चिह्न मत्स्यादि रेखा तथा अन्तरङ्ग भक्ति स्नेह आदि सराहनीय था। उन दोनों ने बड़ी विनय के साथ पिता को नमस्कार किया। भगवान् ने प्रेम से अपनी गोदी में बैठाकर उन पर हाथ फेरते हुए एवं हंसते हुए कहाकि पुत्रियों ? तुम दोनों किशोर अवस्था में भी शील विनय आदि गुणों में प्रवीण हो, यदि तुम्हें विद्या से विभूषित किया जावे तो तुम दोनों का जन्म सफल हो सकता है। जो स्त्री पढ़ी लिखी होती हैं वे आदर सत्कार को प्राप्त होती है। विद्या ही समस्त कल्याण को करने वाली और कीर्ति को देने वाली है। यदि विद्या रूपी देवता की आराधना भली प्रकार से की जावे तो अनेक इष्ट पदार्थों को देती है। इच्छानुसार पदार्थ देने वाली तथा सम्पति दायिनी विद्या ही है। संसार में विद्या ही बंधु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण देने वाली एवं सहायक तथा धनों में प्रधान है। अतः हे पुत्रियों ! तुम विद्या ग्रहण करो, ही समय विद्या ग्रहण करने का है। ऐसा कहकर भगवान् ने सोने के पट्टे पर अपने चित्त में विराजमान श्रुत देवता का पूजन कर अ. अ . इ. ई. आदि वर्ण माला लिखी। तथा क्रमशः इकाई दहाई आदि को बताकर सख्या ज्ञान कराया एवं अनुक्रम से व्याकरण छन्द अलंकारादि पढ़ाये। भगवान् ऋषभ देवने एक "स्वयं भू" नाम का व्याकरण पुत्रियों बनाकर पढ़ाया था। उसमें १०० अध्याय थे। अनन्तर व्याकरण बोध होने पर अन्य विषय पढ़ाये।

जगद्गुरु भगवान् ने पुत्रियों के पढ़ाने के बाद भरत आदि एक सौ एक पुत्रों को भी अनुक्रम से समस्त शास्त्र पढ़ाये। राज-कुमार भरत को बड़े २ अध्यायों से नीति शास्त्र एवं अनेक प्रकरणों के साथ सांगीत शास्त्र पढ़ाया। और कुमार वृषभ सेन को भी संगीत शास्त्र पढ़ाया। कुमार अनन्त विजय को चित्र कला विशेष रूपसे पढ़ाई। और एक कुमार को शिल्प शास्त्र सिखाया। कुमार बाहु बलि को काम शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, धनुर्वेद, स्त्री पुरुषों के लक्षण, हाथी घोड़े आदि जानवरों के लक्षणों, मन्त्र और रत्न परीक्षा आदि विषयक अनेक शास्त्र पढ़ाये कहां तक वर्णन करें उपकार करने वाले जो भी शास्त्र थे सभी अपने पुत्रों को सिखाये थे।

विद्याओं के भेद

आगे विद्याओं के प्रकार एवं लक्षण सामान्य दिखाते हैं—

"आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रोराजविद्याः ॥ ५५ ॥

आन्वीक्षिक्याध्यात्मविषये त्रयी वेदयज्ञादिषु वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः साधुपालनदुष्टनिग्रहः ॥ ६० ॥

अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याकार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते, सम-

[illegible] महाकाव्येक्षणम् ॥ ५६ ॥

त्रयीं पठन् वर्णाश्रमाचारेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति च समस्तामपि धर्माधर्मस्थितिम् ॥ ५७ ॥

युक्तितः प्रवर्तयन् वार्तां सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ॥ ५८ ॥

कृतापराधिषु दण्डप्रणयनेन विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफलाः विभूतयः ॥ ५९ ॥

[नीतिवाक्यामृत पृ० ६०]

अर्थ—विद्याओं के चार भेद नीतिज्ञों ने किये हैं। (१) आन्वीक्षिकी (२) त्रयी (३) वार्ता (४) दण्डनीति।

आत्म तत्त्व को निरूपण करने वाले अध्यात्म शास्त्र तथा दर्शन शास्त्र का पढ़ना, तथा इनके सहकारी व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, कोष आदि का पढ़ना आन्वीक्षिकी विद्या है।

चरणानुयोग और संहिता ग्रन्थ जिनमें चारों वर्णों ब्रह्मचारी, गृहस्थ, एवं, वानप्रस्थ और यति इन ४ आश्रमों के कर्त्तव्य निर्दिष्ट किये गये हों तथा जिनमें गर्भाधानादि क्रिया के करने योग्य हवन पूजन आदि क्रिया काण्ड का निरूपण हो ऐसे शास्त्रों को पढ़ना त्रयी विद्या है।

१ असि—शस्त्र धारण द्वारा जीविका करना।

२ मषी—लेखन कला द्वारा निर्वाह करना

३ कृषि—खेती करना।

४ वाणिज्य—व्यापार आदि द्वारा निर्वाह करना एवं शिल्पादिक जीविकोपयोगी बातों को बताने वाले शास्त्र वार्ता में गर्भित हैं।

दुष्टजनों की रक्षा करना तथा दुष्टों का निग्रह करना दण्ड नीति है।

इस प्रकार ४ प्रकारी विद्याओं का स्वरूप कहा।

अध्यात्म शास्त्र—धर्मशास्त्रज्ञ एवं दार्शनिक युक्ति एवं आगम से हेयोपादेय को बताकर दुःख से निवृत्ति तथा सुख में प्रवृत्ति कराता है। आन्वीक्षिकी विद्या के अध्ययन से अनेक संकटों में भी पुरुष नहीं घबराता, धन पाकर भी घमण्ड नहीं करता है। नैतिक धार्मिक और श्रेयस्कर प्रवृत्तियों में प्रवृत्त करता है।

त्रयीविद्या चरणानुयोग और संहिता शास्त्रों का ज्ञाता ४ वर्णों तथा ४ आश्रमों के ज्ञान को पाकर धार्मिक अनुष्ठान करने से स्थायी सुख तथा क्रमशः उन्नति प्राप्त करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है, नरकादि से बचता है।

वार्ता विद्या असि मषी आदि जीविकोपयोगी शिक्षा से समस्त प्राणियों को सुख करता हुआ अपने कुटुम्ब तथा अपने जीवन निर्वाह करता है।

दण्डनीति—दण्डनीतिज्ञ—सज्जनों की रक्षा तथा दुष्टों के निग्रह करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार आन्वीक्षिकी विद्या के भेदों के अध्ययन के फल का दिग्दर्शन कराया।

बुद्धि के सद्गुण

प्रश्न—बुद्धि के सद्गुण कौन २ हैं जिनसे शास्त्र ज्ञान सफल होता है ?—उत्तर—

"शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्वाभिनिवेशाबुद्धिगुणाः । ४४ ।
श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा । ४५ ।
श्रवणमाकर्णनम् । ४६ ।
ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानम् । ४७ ।
कालान्तरेष्वविस्मरणशक्तिर्धारणा । ४८ ।
मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञान विज्ञानम् । ४९ ।
ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः । ५२ ।
विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयतत्वाभिनिवेशः । ५३ । [नीतिवाक्यामृत पृ० ५१]

अर्थ—शुश्रूषा, ग्रहण, श्रवण, धारणा, विज्ञान, ऊहापोह, और तत्त्वाभिनिवेश ये बुद्धि के गुण हैं।

तात्पर्य—उल्लिखित बुद्धि के सद्गुणों से यदि विद्याध्ययन हो तो वह स्थायी एवं सफल होता है।

शुश्रूषा—शास्त्र सुनने की इच्छा कहलाती है।

श्रवण—शास्त्र को मन लगाकर सुनना है।

ग्रहण—शास्त्र विषय को समझना है।

धारणा—कालान्तर के व्यतीत होने पर भी धारण एवं ग्रहण की हुई विद्या न भूलना धारणा है।

विज्ञान—अच्छी प्रकार से ज्ञान करने को कहते हैं।

ऊह—साधारण ज्ञान का नाम है।

अपोह—विशेष ज्ञान को कहते हैं।

तत्त्वाभिनिवेश—ऊहापोह द्वारा वस्तु के निश्चय को तत्त्वाभिनिवेश कहते हैं।

इस प्रकार यहातक स्वाध्याय आवश्यक का वर्णन किया। अब हम क्रम प्राप्त संयम का स्वरूप कहते हैं—

संयम का वर्णन

"संयम्यन्ते इन्द्रियाणि मनश्च येनासौ संयमः" अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा पांचों इन्द्रियों एवं छठे मन की प्रवृत्ति को रोका जावे उस को संयम कहते हैं। कहा भी है—

"कायछहों प्रतिपाल पञ्चेन्द्रिय मन वश करो।
संजम रतन संभाल विषय चोर बहु फिरतु हैं॥"

"कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीनाः हता पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी सः कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥ १॥"

अर्थ—कुरङ्ग (हिरण), मातङ्ग (हस्ति), पतङ्ग, भ्रमर और मछली क्रम से केवल कर्ण—स्पर्शन—नेत्र—नासिका और जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत होकर प्राण को दे बैठते हैं तो यह प्रमादी मनुष्य जो पांचों इन्द्रियों के वशीभूत है वह कैसे न मारा जावे ? अवश्य मारा जावेगा।

और भी कहा है।

विद्यादयाद्युतिरनुद्धतता तितिक्षा,
सत्यं तपो नियमनं विनयो विवेकः।
सर्वे भवन्ति विषयेषु रतस्य मोघा,
मत्वेति चारुमतिरेति न तद्वशित्वम्॥ ९९॥
लोकार्चितोऽपि कुलजोऽपि बहुश्रुतोऽपि,
धर्मस्थितोऽपि विरतोऽपि शमान्वितोऽपि।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्य—
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निन्द्यम्॥ १००॥
लोकार्चितं गुरुजनं पितरं सवित्रीं,
बन्धुं सनाभिमबलां सुहृदं स्वसारं।
भृत्यं प्रभुं तनयमन्यजनं च मर्त्यो,
नो मन्यते विषयवैरिवशः कदाचित्॥ १०१॥
येनेन्द्रियाणि विजितान्यतिदुर्धराणि,
तस्याविभूतिरिह नास्ति कुतोऽपि लोके।

आध्यं च जीवितमनर्थविविक्तमुक्तं,
पुंसो विविक्तमतिपूजिततत्त्वबोधैः ॥ १०२ ॥ [सुभाषित रत्नसंदोह]

अर्थ—विषयों मे अनुरक्त पुरुष के लिये विद्या, दया, द्युति, अनुद्धतता, क्षमा सत्य, तप, नियम, विनय और विवेक सब व्यर्थ हो जाते हैं। अतः बुद्धिमान पुरुष इन विषयों में आसक्त नहीं होते हैं। ९९।

पुरुष चाहे संसार मे पूजित हो, कुलीन हो, विद्वान् हो, धार्मिक हो एवं विरक्त तथा शान्ति पूर्ण भी हो तथापि इन्द्रियों के विषयों रूपी सर्पों के विषसे ग्रसित होकर ऐसा ऐसा कार्य करने मे तत्पर हो जाता है जो अत्यन्त निंद्य है। सार यह है कि योग्य पुरुष भी विषयों से ग्रस्त होकर अत्यन्त निन्द्य कार्य करने लगते हैं। १००।

विषय रूपी वैरी के वशीभूत प्राणी लोकों से अर्चित (पूजनीय) गुरुजन को, पिता को, माता को, बन्धु को, सगोत्र को, स्त्री को, मित्र को, बहिन को, सेवक को, स्वामी को, पुत्र को, और अन्य प्राणी को भी नहीं मानता है। १०१।

जिसने इस संसार में अत्यन्त दुर्जेय इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली है उसको संसार में कोई वस्तु एवं संपत्ति दुर्लभ नहीं है। उसका जीवन प्रशंसनीय, अनर्थों से रहित है और बड़े २ लोगों से पूजनीय होता है।

संयम के भेद

सकल संयम और विकल संयम के भेदसे संयम दो प्रकार का है।

(१) सकल संयम मुनि साधु अनगार पालन करते हैं। अत. उसका पूर्वार्ध में वर्णन कर आये हैं। यहाँ पर विकल (एकदेश) संयम का वर्णन करते हैं।

(२) विकल संयम— के भी दो भेद हैं। एक उत्कृष्ट विकल संयम, दूसरा अनुत्कृष्ट विकल संयम। उत्कृष्ट विकल संयम का वर्णन नैष्ठिक अधिकार मे आगे कहेंगे। यहां पर अनुत्कृष्ट विकल संयम का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

यह संयम १ प्राण संयम और २ इन्द्रिय संयम के भेद से दो प्रकार का है।

इन्द्रिय संयम साधु एवं उत्कृष्ट श्रावक पालते हैं और प्राण संयम गृहस्थ पालते हैं।

प्राण संयम के १ त्रसप्राण संयम २ स्थावर प्राण संयम भेद से दो भेद हैं।

उनमें बादर त्रस काय के हिंसा के त्यागी श्रावक अष्टमूल गुण के धारक होते हैं। यह हिंसा चार प्रकार की है।

१ आरम्भी हिंसा २ उद्योगी हिंसा ३ विरोधी हिंसा ४ संकल्पी हिंसा। इन चारों प्रकार की हिंसाओं में से गृहस्थ संकल्पी हिंसा का ही त्यागी होता है। शेष तीन प्रकार की हिंसा का पूर्ण रूप से त्यागी नहीं होता। गृहस्थ को स्थावर काय की हिंसा प्रयोजन से करनी पड़ती है।

इसको स्व० कविवर पं० दौलत राम जी ने 'छह ढाले' में कहा है—"त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारै" अर्थात् गृहस्थ त्रस हिंसा का त्याग करे और गृहस्थ को चाहिये कि व्यर्थ में स्थावरजीवों की हिंसा न करे।

अतः गृहस्थ को प्रथम प्राणि-संयमी बनना आवश्यक है। और जीवों की चलते, बैठते, सोते, खाते, पीते, उठाते, धरते, मकान बनाते, आग जलाते, विवाह करते हर समय दया पालन करना चाहिए।

यहांतक कि श्री जिनेन्द्र भगवान् के पूजन प्रतिष्ठा मण्डल विधानादिक में भी प्राणि संयम को गृहस्थ न भूले,

अपने अपने पद के अनुसार किसी प्रकार की भूल नहीं करनी चाहिये। यदि कोई भूल हो जावे तो ज्ञानवानों से विचार कर शीघ्र ही उसका निराकरण करे। एवं पूर्ण रीति से हृदय में अनुकम्पा भाव रक्खे। यह संक्षेप में गृहस्थियों के लिये संयमका लक्षण कहा।

तप का वर्णन

अब हम क्रम प्राप्त तप का वर्णन करते हैं। प्रथम ही उसका सामान्य लक्षण एवं प्रकार बतलाते हैं।

"विनाश्यते येन दुरन्तसंसृतिस्तदुच्यते मोहतमोपहं तप।
विनिर्मलानंतसुखैककारणं दुरन्तदुःखानलवारिदागमम्।
द्विधा तपोऽभ्यन्तरबाह्यभेदतो वदन्ति षोढा पुनरेक ते जिनाः। ८८०। [सुभाषित रत्नसंदोह]

अर्थ—जिसके द्वारा दुःख रूप संसार छूट जावे एवं जो मोह रूपी अन्धकार को दूर करे उसे तप कहते हैं। वह तप निर्मल अनन्त सुख का प्रधान कारण है और दुःख रूप अग्नि के लिये मेघ के समान है। उस तप के जिनेन्द्र भगवान् ने बाह्य और आभ्यन्तर भेद से

दो प्रकार और बाह्य तप के भी ६ भेद और अन्तरङ्ग के भी ६ भेद इस प्रकार से बारह भेद बताये हैं।

यहां पर आचार्य ने तप का मुख्य उद्देश्य मोह रूप अन्धकार को दूर करके दुःखान्त संसार का उच्छेदन करना बतलाया है। जब तक प्राणी के हृदय से मोह का विनाश न होगा तब तक उसका संसारोच्छेद होकर मोक्ष प्राप्ति भी अशक्य है। अतः मोह को छोड़ कर अभिलाषाओं का दूर करना मुख्य प्रयोजन है। यह मोह त्याग मुनि ों के सर्वथा होता है, गृहस्थी के एक देश बनता है। किन्तु लक्ष्य एक ही है कहा भी है "जो तप तपैं खपैं अभिलाषा, तेजन इह भव पर भव सुख चाखा" भावार्थ जो अभिलाषायें छोड़कर तपस्या करता है उसको इस लोक एवं परलोक मे भी सुख की प्राप्ति होती है। अभिलाषा एवं परिग्रह ये सब भी मोह जन्य हैं, क्योंकि आचार्यों ने "मूर्च्छा परिग्रह" इस सूत्र के द्वारा ममत्व भावको ही परिग्रह शब्द से कहा है और वास्तव मे ममत्व भाव से ही अभिलाषा एवं परिग्रह होता है। वह मोह ही परिग्रह है और उस परिग्रह तथा अभिलाषा के द्वारा जीव का क्या २ अहित हो जाता है उसको इन पद्यत्रयी से बतलाते हैं।

"कालुष्यं जनयन् जडस्य रचयन् धर्मद्रुमोन्मूलनम् ।
क्लिश्नन्नीति कृपाक्षमाकमलिनीं लोभाम्बुधिं वर्धयन् ॥
मर्यादातटमुद्रुजन्शुभमनोहंसप्रवासं दिशन् ।
किं न क्लेशकरः ग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिंगतः ॥ ४१ ॥
वह्निस्तृप्यति नेन्धनैरिह यथा नाम्भोभिरम्भोनिधि–
स्तद्वल्लोभघनोघनैरपि घनैर्जन्तुर्न संतुष्यति ॥
नत्वेवं मनुते विमुच्य विभवं निःशेषमन्यं भवं।
यात्यात्मा तदहं मुधैव विदधाम्येनांसिभूयांसि किम् ॥ ४४ ॥ [सूक्ति मुक्तावली]

अर्थ—यह परिग्रहरूपी नदी का पूर (वेग) कलुषता करता हुआ, धर्म रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ता हुआ, नीति, कृपा और क्षमा रूपी कमलिनी को तोड़ता हुआ, लोभ रूपी समुद्रको बढाता हुआ, मर्यादा रूपी किनारे को तोड़ता हुआ, शुभ मनोरूपी हंस को उड़ाता हुआ, सब क्लेशों को देता हुआ बढ़ता है।

जिस प्रकार वह्नि (अग्नि) इन्धनों से नहीं तृप्त होती, समुद्र जलों से संतुष्ट नहीं होता उसी प्रकार लोभी पुरुष बड़े २ धनों से

भी संतुष्ट नहीं होता, अभिलाषा बनी रहती है। वह यह नहीं विचारता कि मेरा आत्मा सब विभव को छोड़ कर अकेला ही आया है और अकेला ही जावेगा अतः मैं व्यर्थ में पाप क्यों करूँ ?

इस अभिलाषा एवं ममत्व भाव तथा परिग्रह को छोड़ कर अपनी शक्ति के अनुसार आत्म-कल्याण के इच्छुक को अवश्य तप करना चाहिये। कहा भी है —

"जं सक्कई तं कीरइ जं च ण सक्कई तहेव सद्दहणं।
सद्दहणमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ १ ॥"

भावार्थ--"तपसा निर्जरा च" तपस्या से कर्मों की निर्जरा होती है अतः अपनी शक्ति को न छिपाकर तपस्या करनी चाहिये। यदि शक्ति न हो तो पूर्णरूप से श्रद्धान करना चाहिये। जो मनुष्य तप का श्रद्धान भी करते हैं वे जीव अजर और अमर पद को प्राप्त करते हैं।

तप के दो भेद हैं बाह्य और आभ्यन्तर।

इनमें प्रत्येक के छह २ भेद होने से तप १२ बारह प्रकार का है। उसमें प्रथम बाह्य तप के ६ छह भेद बतलाते हैं। यहां संक्षेप में ही वर्णन करेंगे। विस्तार रूप से मुनिधर्म के प्रकरण में वर्णन कर चुके हैं।

१ अनशन २ ऊनोदर ३ व्रतपरिसंख्यान ४ रस परित्याग ५ काय क्लेश ६ और विविक्तशय्यासन ये ६ बाह्य तप के भेद हैं।

(१) अनशन—चारों प्रकार के आहार के त्याग का नाम अनशन है।

(२) ऊनोदर—बुभुक्षा से कम खाने का नाम आचार्यों ने ऊनोदर बतलाया है।

(३) व्रत परिसंख्यान—आज इस प्रकार आहार मिलेगा तो लेवेंगे अन्यथा नहीं लेवेंगे, इस तरह संकल्प करना व्रत परिसंख्यान है।

(४) रस परित्याग—छहों रसों में कुछ रस छोड़कर भोजन करने का नाम रस परित्याग है।

(५) कायक्लेश—आज सामायिक इस आसन से करेंगे और उस में उपसर्ग आगया तो कदापि चलायमान नहीं होंगे, यह काय क्लेश तप है।

(६) विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थान में जाकर आसन लगाकर ध्यानादिक करना, कोलाहल में न करना, विविक्त शय्यासन नाम का तप है।

आभ्यन्तर तप के भेद निम्न प्रकार से हैं:—

(१) प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैय्यावृत्ति ४ स्वाध्याय ५ कायोत्सर्ग और ६ ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं।

(१) प्रायश्चित्त—जो आचरण एवं चरित्र मे किसी प्रकार की शिथिलता एवं दोष का दण्ड लेना है उसको प्रायश्चित कहते हैं।

(२) विनय—अपने से गुण में, तप में, दीक्षा में, आयु में, ज्ञान में, एवं व्रत में जो अधिक हो उसका आदर सत्कार करना, उच्चासनादि देना है वह विनय तप है।

(३) वैय्यावृत्य—वृद्ध हो, बालक हो- रोगी हो, एव दीन अन्धा लगड़ा तथा पंगु हो, ग्लानि छोड़ कर उसकी परिचर्या सेवा आदि करना है सो वैय्यावृत्य तप है।

(४) स्वाध्याय—जिन शास्त्रों से 'स्व' अर्थात् आत्माका अध्याय-अध्ययन एवं ज्ञान हो, ऐसे समीचीन पदार्थों के दर्शानेवाले शुद्ध निर्दोष शास्त्रों का अध्ययन करना, कराना एवं उनकी शिक्षापर ध्यान रखना, जहां तक बने आत्म धर्म में शिथिलता न आने देने का नाम स्वाध्याय तप है।

(५) कायोत्सर्ग—जो स्वयं अपने ऊपर प्रायश्चित्त आया हो उसमें, अथवा दिन चर्या में और आचार पालन ग्रन्थों में जो भी कायोत्सर्ग बताये हैं उनको करने का नाम कायोत्सर्ग है।

(६) ध्यान—जिस समय सामायिक करते हैं उस समय आध्यात्मिक चिन्तवन करना, बारह भावनादि भा कर चित्त को स्थिर करना और आत्मस्थ भावों से जितना बने उतना रमण करना इस को ध्यान नामा तप कहते हैं।

इनका भी विशेष वर्णन पूर्व मुनि धर्म के वर्णन में कह चुके हैं, अतः यहां विस्तार नहीं किया गया है।

दान का माहात्म्य

"दान विना नहीं मिलत है सुख सम्पति सौभाग।

कर्मकलंक खिपाय के पावे शिव पदराज ॥ १ ॥

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजात् भवेत् ॥ २ ॥"

(१) ज्ञानदान—जिस प्रकार से अन्य पुरुष की बुद्धि विद्या एवं ज्ञान वृद्धि हो ऐसे कार्य करने को तथा उसके साधनों को जुटाने को ज्ञान दान कहते हैं । विद्या पढाना—पाठशालायें खोलना, पुस्तकें देना, छात्र वृत्ति देकर छात्रों का उत्साह बढ़ाना, आदि सब ज्ञानदान है । मंदिरों में तथा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाओं को शास्त्र दान देना जो केवल ज्ञान कारण होता है ।

(२) अभयदान—जिस कारणो से अन्य पुरुष का भय दूर होजावे ऐसे कारणों का योग करना अभयदान अर्थात् दूसरों को भय से बचाने का नाम है । ऐकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय तक की दया पालना अभयदान है ।

(३) अन्नदान—उत्तम योग्य पात्रों को दान देकर अर्थात् आहार देकर उन को क्षुधा की निवृत्ति करने का नाम आहार दान है ।

(४ औषधि दान—मुनि आर्यिका, श्रावका-श्रावकाओं को शुद्ध औषधि दान करना, औषधालय खुलाना जिससे अन्य प्राणियों के रोग दूर होकर स्वस्थता प्राप्त हो, ऐसे साधन जुटाने का नाम औषधिदान है इससे निरोग शरीर प्राप्त होता है । इन चार दानों को करना गृहस्थ का पहला कर्तव्य है ।

भक्ति सहित फल की इच्छा के विना मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका, को जो आहारदान देना है वह अत्यन्त कल्याणकारी है । इस भव में यश की प्राप्ति होती है तथा आहार दान धर्मोपदेष्टाओं को देने से उनकी शरीर स्थिति रहती है और शरीर स्थिति के कारण धर्मोपदेश के लाभ से आत्म कल्याण की प्राप्ति होती है । जिन के घर से दान नहीं दिया जाता उस घर को आचार्यों ने श्मसान के तुल्य बताया है । अतः अपनी सामर्थ्यानुकूल अवश्य दान देना योग्य है जिससे पुण्य बंध होकर भविष्य में सुख की प्राप्ति हो ।

आगे यह बतलाते हैं कि विनादान के मनुष्य की पर भव मे क्या दशा होती है ।

"भिक्षुक धय धय बोधाय मोक्षन पुंसादेयधणा दाणां ।
विण दीये ममजीवो, लहवश वार वार जाचंति ॥ १ ॥"

अर्थ—हे सज्जनो ! देखो पहले भव में मैं भी धनवान था, परन्तु मैंने लोभ के वशीभूत दान नहीं दिया इससे ऐसा दरिद्री हुआ हूँ कि अब खाने के वास्ते भी घर २ मांगता फिरता हूँ और मुझे खाने को भी नहीं मिलता है। यह अदान का फल है। अतः मेरी हालत देखकर तुम दान करना मत भूलो।

दान की प्रेरणा के लिए क्या ही अच्छा कहा है:—

"याचका नैव याचन्ते बोधयन्ति गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां लोकेष्वदानात् फलमीदृशं ॥"

अर्थ—संसार में याचक लोग भिक्षा नहीं मांगते हैं, अपितु घर घर जाकर प्रतिबोधन करते हैं कि हे धनिको ! दान करो, दान करो ! यदि दान नहीं करोगे तो तुम को भी मेरे समान दरिद्री बनकर भिक्षावृत्ति करनी पड़ेगी।

नीतिकारों ने धन की तीन व्यवस्था बतलाई है। जैसे—

"दानं भोगो नाशस्तिस्रोगतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥"

अर्थ—धन की निम्न लिखित तीन दशा होती हैं:—दान, भोग और नाश। जो पुरुष दान भी नहीं देता, भोग भी नहीं करता उसके धन की तीसरी दशा अर्थात् नाश नाम की दशा होती है। भावार्थ यह है कि जो पुरुष न तो दान करता है और न खाता है, उसका धन नाश को प्राप्त हो जाता है।

यदि धन को दानादि में लगाकर सफल नहीं किया जावे तो धन सर्वथा दुःख का ही आश्रय है। कहा भी है:—

"अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुखभाजनम् ॥"

अर्थ—अर्थोपार्जन एवं आय में भी दुःख होता है और व्यय होने पर भी दुःख होता है, ऐसे कष्टदायी धन को धिक्कार है।

अतः बुद्धिमानों को उचित है कि धन का दान करके सदुपयोग करते हुए पुण्योपार्जन करें।

गृहस्थों के लिए दान के चार भेद

आचार्यों ने गृहस्थों के लिये दान के दूसरे प्रकार से चार भेद बतलाये हैं। १ पात्रदत्ति २ समदत्ति ३ दयादत्ति और ४ सर्वदत्ति।

(१) पात्रदत्ति—उत्तम, मध्यम तथा जघन्य पात्रों को भक्ति पूर्वक दान देना पात्र दत्ति है। उत्तम पात्र मुनि है, मध्यम पात्र ऐलक तथा क्षुल्लक है। जघन्य पात्र प्रतिमाधारी श्रावक है।

(२) समदत्ति—अपने समान धर्मात्मा अव्रत सम्यग्दृष्टि श्रावकों को कन्यादेना, रुपया पैसा गृह मकान उपकरण जायदाद लकड़ी पत्थर आदि देना, रोजगार लगवाना एवं अन्य प्रकार से उनका उपकार करना जिससे वे धर्म साधन में दृढ बने रहें, धर्म से शिथिल न हों, वह समदत्ति है।

(३) दयादत्ति—दुखी, दरिद्री, बुभुक्षित, लंगड़ा, पगु, अंधा, बहिरा, काना, कोढ़ी, उन्मत्त, मकान रहित, परवार रहित, बीमार, विद्यार्थी, अति बालक, अतिवृद्ध, पशु-पक्षी, जलचर, थलचर और नभचर समस्त जीवों की दया करना श्रीमानों का परम कर्तव्य है। इस दान को दया दत्ति कहते हैं।

औषधालय—भोजनशाला—विद्यालय—अनाथालय—गुप्त सहितालय आदि जो भी पुण्य कर्म के इस प्रकार के साधन जुटाना है वह दया पूर्वक दान करने के कारण दयादत्ति के अन्तर्गत आ सकते हैं।

धनाढ्य पुरुष अपनी सम्पत्ति को उल्लिखित कार्यों मे खर्च कर सफल बनाते हैं। धर्मात्मा पुरुष यदि उनके पास सम्पत्ति नहीं है तो धनिकों को उपदेश देकर एव दान कराके पुण्योपार्जन करते हैं।

(४) सर्वदत्ति—अपने कुटुम्बी जन एवं उत्तराधिकारियों को उपार्जन की हुई सम्पत्ति में से कुछ देना अथवा सब देना सर्वदत्ति एवं अन्वयदत्ति दान कहलाता है।

माता पिता काका काकी भाई भतीजा स्त्री पुत्र पुत्री पोती पोता इत्यादि सम्बन्धी जनों को भी जो सम्पत्ति देनी हो उनको बुलाकर धर्म का उपदेश देकर यह कहना चाहिये कि यह सम्पत्ति तुम को सत्कार्यों में एवं धार्मिक कार्य में सदुपयोग करने के लिये दी जाती

है, इसका सदुपयोग करना। यदि इतने कहने पर भी सम्बन्धी लोग उस सम्पत्ति का दुरुपयोग करें तो उस के दोष के भागी वे सम्बंधी ही होवेंगे, दाता को कोई दोष न होगा। कुटम्बियों को धर्मात्मा बनाने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।

आगे पात्रदत्ति की विशेष व्याख्या करते हैं—

"विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः"—(तत्वार्थ सूत्र)

जो दान विधि सहित, उत्तम मर्यादित द्रव्य सहित-श्रद्धा-सहित, उत्तम भावों से इच्छा रहित होकर सम्यग्दृष्टि श्रावकों के द्वारा उत्तम पात्र को दिया जाता है उस दान की बड़ी भारी महिमा है। इस प्रकार के दान के अनुमोदना मात्र से भी जीवों को भोग भूमि में उपभोग्य सामग्री मिलती है।

दान का प्रभाव

भगवान् आदिनाथ के जीवने वज्रजंघ और श्रीमती की पर्याय में जो मुनियों को आहार दान दिया था उसकी रतिवर कबूतर और रति वेगा कबूतरी ने अनुमोदना की थी उसके पुण्य के प्रभाव से वे दोनों कबूतर और कबूतरी मर कर उत्तम भोग भूमि में उत्पन्न हुए और कल्प वृक्षों से ऐच्छिक सामग्री का भोग किया। पश्चात् वे दोनों भोग भूमि की आयु पूर्ण कर स्वर्ग में गये और वहां से चयकर विजयार्ध पर्वत की गांधार देश की सुसीमा नगरी के अधिपति आदित्यगति राजा के रतिवर कबूतर का जीव हिरण्यवर्मा नाम का पुत्र हुआ। रतीवेगा कबूतरी का जीव भोगपुरी नगरी के स्वामी राजा वायुरथ के प्रभावती नाम की कन्या हुई।

अनन्तर हिरण्यवर्मा और प्रभावती का विवाह होगया। वहां पर उन्होंने विद्याधरों के प्रचुर वैभव को भोगा और पुनः दोनों स्वर्ग में गये। वहा पर स्वर्ग की वैभव का उपभोग करके जयकुमार और सुलोचना हुए।

जयकुमार बड़ा शक्तिशाली राजा था जिसको भरतेशने अपनी सेना का अधिपति बनाया तथा उसने अपने बल से मेघ से कुमार देवों तक पर विजय प्राप्त की थी—सामान्य राजा न था।

इसी प्रकार दान के प्रभाव से राजा अकंपन की पुत्री सुलोचना भी बड़ी सुन्दरी हुई जिसके लिये अनेक देश के राजा स्वयंवर में वरने को आये थे। भरतेश पुत्र तक ने भी जिस के लिये पूर्ण प्राप्ति का प्रयास किया था, इसका पिता भी, महामान्य भरतेश तक से सन्मानित हुआ था।

दानकी अचिन्त्य महिमा है। दान से मनुष्य क्या २ उभभोग और प्राप्त नहीं करते ? अर्थात सब प्राप्त करते हैं।

"सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रे गतबीजवत्।
फलाय यदपि स्वल्पं तदकल्पाय कल्पते ॥

अर्थ—सत्पात्र मे गया हुआ दान अच्छे स्थान में बोये हुए बीज के समान सफल होता है।

यहां पर चारित्रसार की व्याख्या उद्धृत करते

दानफलविशेषेणोत्तमभोगभूमौ दशविधकल्पवृक्षजनितसुखफल श्रीषेणोऽन्वभूत्। तथा च दानानुमोदेन रतिवररतिवेगाख्यं कपोतमिथुनं विजयार्धप्रतिबद्धगान्धारविषयसुसीमानगराधिपतेरादित्यगते रतिवरवरो हिरण्यवर्मनामानन्दनोऽभूत्। तस्मिन्नेव गिरौ गिरिविषयेभोगपुरपतेर्वायुरथस्य रतिवेगवरी प्रभावत्याख्या तनयाऽभूत्। एवं हिरण्यवर्मा प्रभावती च जातिकुलसाधितविद्या प्रभावेन सुखमन्वभूताम्।

दान की बड़ी भारी महिमा अन्यत्र भी कही है—

"दान विना नहि मिलत है सुख सम्पति सौभाग्य।
कर्मकलंक खपाय कर पावे शिवपद राज ॥"

भावार्थ—दान से ही संसारी जीवोंकोमहान् सुख की प्राप्ति होती है। दानी जीव ही संसार में महान यश को प्राप्त करता है। कहां तक कहा जावे इस ससार में दान के प्रभाव से ही जीव अत्यन्त दुर्लभ भोग भूमि के सुख देव विद्याधर प्रति नारायण तथा नारायण चक्रवर्ती और वसुदेव आदि पदों को प्राप्त करता है। इस दान के प्रभाव से शत्रु भी शत्रुता छोड़कर अपना हित करने लगते हैं। अनंत शत्रु दान के प्रभाव से मित्र रूप होगये हैं।

श्रेयांस राजा के जब आदीश्वर स्वामी का आहार हुआ तो प्रथम इन्द्र ने दाता की प्रशंसा की थी, पीछे दान की। पश्चात् आदीश्वर भगवान की जो कि उत्तम पात्र थे। इस प्रकार प्रशंसा की थी। इन्द्र के शब्द इस प्रकार के थे:—

"धन्यदानी अरु धन्य दान अरुधन्य है आदीश्वर भगवान्" अर्थात् हे भव्य जीवो ! यहां पर प्रथम दानी को धन्यवाद दिया गया और फिर दान को, अनंतर जो आदीश्वर महाराज हैं उन को धन्यवाद दिया गया।

इस युग में सब से प्रथम तीन लोक के अधिपति भगवान आदीश्वर को आहार दान देकर संसाररूपी समुद्र पार होने के लिये नाव के समान मुनि मार्ग को चलाने के साधन स्वरूप शरीर के भी परम साधक आहारदान का मार्ग चलाया था अतः इनकी प्रशंसा देवेन्द्रों के द्वारा भी हुई है।

भगवान कुन्द कुन्द स्वामी ने दान को रत्नत्रय प्राप्ति का कारण बतलाया है—

"जीयसुहत्थय मोक्खो मोक्खो तयगा रयण सुगासातो।
सुगाधारतया अहारो भोयण सावय गेह कर होई॥"

अर्थ—जीव ससार में सुख की इच्छा करते हैं वास्तव में संसार में सुख नहीं है किन्तु सुखाभास है। आत्मिक सुख को सत्य सुख कहते हैं वह संसार से कैसे मिल सकता है ! क्योंकि संसार में आकुलता है और सुख निराकुल रूप है और निराकुल अवस्था मोक्ष में है। मोक्ष का साधन रत्नत्रय धारी मुनि करते हैं। एवं उपदेशादि द्वारा गृहस्थियों को उसके मार्ग पर लगाते हैं। उपदेशादि का साधन शरीर है। कहा भी है "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" अर्थात् धर्म का साधन शरीर है। उसकी स्थिति भोजन के उपर निर्भर है और भोजन के साधन गृहस्थ के द्वारा दिया गया मुनि को दान है। अतः रत्नत्रय का साधक कारण आहार दान कहलाया। अतः गृहस्थों को चाहिये कि दान देकर अपने जीवन को सफल बनावें एवं धन का सदुपयोग करें। अन्यथा समय निकले बाद कुछ नहीं कर सकोगे।

श्री भगवान ऋषभ देव ने भी राजा श्रेयांस से आहारदान लेकर शरीर की स्थितिको रखते हुए रत्नत्रय का आराधन कर केवल ज्ञान प्राप्त कर ससार के जीवों को सदुपदेश देकर कल्याण किया था। यदि आहार दान मुनिजन प्राप्त न करें तो उनके शरीर की स्थिति के बिना कोई धर्म साधन नहीं हो सकता।

"पूज्य गुरू निर्ग्रन्थ बिन दानी कौन बनाय।
भोग भूमीश्वर चक्री जिन, होकर मोक्ष लहाय॥

अर्थ—यदि पूज्य निर्ग्रन्थ साधु गुरु न होते तो जीवों को श्रावक बनकर दानी बनने का सौभाग्य कैसे प्राप्त होता। और दान

के विना उसका फल भोग भूमि का सुख, देव पर्याय के आनन्द, चक्रवर्तियों की विभूति आदि प्राप्त कर एवं तीर्थंकर पदवी प्राप्त कर मोक्ष पद कैसे प्राप्त किया जा सकता है। पूज्य दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधुओं के आहार देने का बड़ा भारी माहात्म्य है। जहां पर निर्ग्रन्थ गुरुओं एवं मुनियों की चर्चा एवं आहार होता है उन के घर देवता रत्नवृष्टि आदि पांच प्रकार की वर्षा करते थे जिन को पंचाश्चर्य कहते हैं। पुण्य एवं धर्म का माहात्म्य अचिन्त्य है। और भी कहा है—

"जाचें सुरतरु देय सुख चिन्तित चिन्तारैन।
विनजाचे विन चिन्तये धर्म सकल सुखदैन॥"

अर्थ—कल्पवृक्ष भी याचना करने पर ही सुख को देते हैं और चिन्तामणि रत्न भी चिन्तवन करने से किसी पदार्थ को देता है किन्तु दोनों से बढ़कर दान द्वारा प्राप्त हुआ धर्म विना मांगे और विना विचारे ही संसारी जीवों को सुख सामग्री की प्राप्ति करादेता है।

दानी पुरुषों को अपना स्वभाव चन्दन के समान शीतल और क्षमा रूप रखना चाहिए। कोई कुछ भी कहो दान अवश्य देना चाहिये जैसे कुल्हाड़ी चन्दन को काटती है तथापि चन्दन उस को सुगन्धित ही करता, है अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। उसी प्रकार आप को भी अपना स्वभाव शीतल और क्षमा रूप रखना चाहिये दूसरा चाहे कुछ भी कहता रहे। दुर्जन अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है तो सज्जन को भी अपना स्वभाव नहीं छोडना चाहिये।

धन दान देने से कभी नहीं घटता है जब कभी घटता है तो पाप के उदय से घटता है। जैसे कुए का जल पीने से कभी नहीं घटता एवं विद्या कभी देने से नहीं घटती प्रत्युत पानी और विद्या क्रमसे कुए से निकालने एवं पढ़ाने से वृद्धि को प्राप्त होती है। उसी प्रकार धन की दशा है। ज्यों २ दान दिया जाता है पुण्य की प्राप्ति होती है। अतः पुण्य का फल रूप धन बढ़ता है। कोई पूर्व का पाप उदय में आजावे तो दूसरी बात है। उससे धन घट सकता है, अन्यथा दान देने से धन नहीं घटता। जो लोग दान देने से धन का घटना समझते हैं वे भूल करते हैं। इस कारण हे भव्य जीवों! मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिए दान जरूर देना चाहिए। इस प्रकार श्रावकों के षट्कर्म का वर्णन किया।

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्य सागरजी महाराज
द्वारा विरचित संयम–प्रकाश नामक ग्रंथ के उत्तरार्द्ध की
दर्शनव्रत–प्रतिमाधिकार नामक तृतीय किरण
(८ वां पुष्प) समाप्त हुई।

उत्तरार्द्ध की चतुर्थ किरण

शीघ्र छप रही है।